मौलिक चिकित्सा कौनसी ?

(स्वावलंबी अथवा परावलंबी)

अपनी बात –आपके साथ

स्वावलंबी चिकित्सा अधिक वैज्ञानिक-स्वयं द्वारा, स्वयं को स्वस्थ रखने की प्रभावशाली विधियां हैं, उपचार की अच्छी पद्धतियां हैं। अच्छी चिकित्सा पद्धति के लिए आवश्यक होता है, रोग के मूल कारणों का सही निदान, तुरन्त दुष्प्रभावों से रहित स्थायी उपचार। जो पद्धति सहज, सरल, सस्ती, स्वावलंबी एवं अहिंसक होने के साथ-साथ शरीर, मन, वाणी और आत्मा के विकारों को कम करने में सक्षम हो, जिन चिकित्सा पद्धतियों में करणीय-अकरणीय, भक्ष्य-अभक्ष्य, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय, वर्जित-अवर्जित का विवेक हो वही चिकित्सा पद्धतियां अपने आपको वैज्ञानिक एवं सर्वश्रेष्ठ होने का दावा कर सकती हैं।

जब से मानव सभ्यता का विकास हुआ, तभी से स्वास्थ्य वैज्ञानिक, चिकित्सक तथा चिंतक इस प्रयास में व्यस्त हैं कि मानव रोग मुक्त जीवन कैसे जी सके? यथार्थता यह है कि इतनी प्रगति के बावजूद भी आज रोग और रोगियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। मानव शरीर के लिये अति आवश्यक कोशिकाओं, रक्त, वीर्य, अस्थि, मज्जा आदि किसी भी शारीरिक अवयव का आज तक प्रयोगशालाओं में निर्माण नहीं हो सका है।

दुनिया में चेतनाशील प्राणियों में मानव का प्रतिशत तो एक प्रतिशत से भी कम है, बाकी 99 प्रतिशत जीव अनादि काल से सहज जीवन जी रहे हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार की चिकित्सा पद्धति का न तो कोई ज्ञान होता है और न अनुभवी चिकित्सकों का सान्निध्य ही मिलता है। क्या वे रोगी नहीं होते? वे पुनः कैसे स्वस्थ होते हैं? दूसरी तरफ स्वच्छ वातावरण में रहने वाले, पौष्टिक आहार का सेवन करने वाले, शुद्ध निर्मल मिनरल वाटर पीने वाले भी रोगी हो जाते हैं, आखिर क्यों? इस पर बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष सम्यक् चिन्तन आवश्यक है।

मानव शरीर दुनिया की सर्वश्रेष्ठ मशीन है जो पांचों इन्द्रियों और मन जैसी अमूल्य सम्पदाओं से न केवल परिपूर्ण ही होता है अपितु उसके सारे अंग-उपांग पूर्ण तालमेल एवं आपसी सहयोग एवं समन्वय से अपना-अपना कार्य करते हैं। यदि शरीर के किसी भी भाग में कोई तीक्ष्ण कांटा, सूई अथवा पिन चुभ जाए तो उस समय न तो आंख को अच्छे से अच्छा दृश्य देखना अच्छा लगता है और न कानों को मन पसन्द गीत सुनना। यहां तक कि दुनिया भर में चक्कर लगाने वाला हमारा चंचल मन क्षण मात्र के लिए अपना ध्यान वहां केन्द्रित कर देता है। जिस शरीर में इतना तालमेल और अनुशासन हो, क्या उस शरीर में कोई अकेला नामधारी रोग उत्पन्न हो सकता है? मानव शरीर अपने आप में परिपूर्ण है। इसमें अपने आपको स्वस्थ रखने की पूर्ण क्षमता होती है।

शरीर में हजारों रोग होते हैं, परन्तु अधिकांश चिकित्सा पद्धतियां आज निदान करते समय उनकी उपेक्षा कर कुछ मुख्य रोगों को ही प्रधानता देती हैं। जनतंत्र में सहयोगियों को अलग किये बिना जिस प्रकार नेता को नहीं हटाया जा सकता, सेना को जीते बिना सेनापति को कैद नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार सहयोगी रोगों की उपेक्षा कर शरीर को पूर्ण रूप से रोग मुक्त नहीं रखा जा सकता। यह सनातन सत्य है तथा उसको नकारने एवं उपेक्षा कर शरीर को पूर्ण रूप से रोग मुक्त नहीं रखा जा सकता। इस सनातन सत्य को नकारने एवं उपेक्षा करने वाली चिकित्सा

आंशिक, अधूरी एवं अस्थायी ही होती है। यह रोगों एवं लक्षणों के नाम से उपचार करने वाली पद्धतियों के प्रशंसक स्वास्थ्य प्रेमियों के लिए चुनोती भरा चिन्तन का प्रश्न है।

हमारे शरीर में स्वयं को स्वस्थ रखने की क्षमता होती है। अनुभवी चिकित्सक एवं अच्छी से अच्छी दवा शरीर को अपना उपचार स्वयं करने की प्राकृतिक विधि में सहयाक मात्र होते हैं। शरीर के सहयोग के बिना सारे उपचार निष्क्रिय हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ रहना चाहता है, परन्तु चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य नहीं मिलता। उपचार से पूर्ण रोगी को यह जानना और समझना आवश्यक है कि रोग क्या है? रोग कब और क्यों होता है? उसके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारण क्या हो सकते हैं? रोग के सहायक एवं विरोधी तत्त्व क्या हैं? व्यक्ति रोग तो स्वयं पैदा करता है, परन्तु दवा और डॉक्टर से ठीक करवाना चाहता है। क्या उसका श्वास अन्य व्यक्ति ले सकता है? क्या उसका खाया हुआ भोजन दूसरा व्यक्ति पचा सकता है। प्रकृति का सनातन सिद्धान्त है कि जहां समस्या होती है, उसका समाधान उसी स्थान पर होता है। अतः जो रोग शरीर में पैदा होते हैं, उनका उपचार शरीर में अवश्य होना चाहिये। यही स्वालम्बी चिकित्सा का मूल सूत्र है। अत: जो चिकित्सा पद्धतियां जितनी ज्यादा स्वावलंबी होंगी, रोगी की उसमें उतनी ही अधिक सजगता, भागीदारी होगी एवं सम्यक् पुरुषार्थ होने से वे पद्धतियां उतनी ही अधिक प्रभावशाली होंगी।

अधिकांश व्यक्ति रोग होने में स्वयं की गलती स्वीकार नहीं करते। इसी कारण रोग के कारणों को समझे बिना, निदान के बारे में अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त किये बिना, डॉक्टरों के पास पड़ने वाली भीड़ के अन्धा:नुकरण के कारण, चिकित्सा से भविष्य में पड़ने वाले दुष्प्रभावों की उपेक्षा करते हुए, अपने आपको डॉक्टरों की प्रयोगशाला बनाते प्राय: संकोच नहीं करते। दवाओं के अनावश्यक सेवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति क्षीण होने लगती है। रोग के जितने मानसिक और भावनात्मक कारणों के साथ-साथ प्रकृति के विरूद्ध खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार से संबंधित कारण स्वयं को ज्ञात होते हैं, उनको रोगी पूर्णत: अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जितने कारण अभिव्यक्त कर सकता है, वे सारे यंत्रों एवं पेथालोजिकल परीक्षणों की पकड़ में सदैव नहीं आते। अत: निदान प्राय: अधूरा ही होता है। जब निदान अधूरा हो, जिसमें रोग के मूल कारणों की उपेक्षा हो, तो ऐसे उपचार कैसे स्थायी हो सकते हैं? आज उपचार किया जाता है, परन्तु वास्तव में होता नहीं। मात्र पीड़ा में राहत मिलना अथवा रोग के बाह्य कारणों का दब जाना, रोग का सम्पूर्ण उपचार नहीं माना जा सकता।

हमें चिन्तन करना होगा कि जो शरीर अपनी कोशिकाएं रक्त, मांस, मज्जा, हड्डियां, चर्बी, वीर्य आदि अवयवों का निर्माण स्वयं करता है, जिसे आधुनिक विकसित स्वास्थ्य विज्ञान पूरी कोशिश के बावजूद अभी तक नहीं बना सका, ऐसे स्वचालित, स्वनिर्मित, स्वनियन्त्रित शरीर में स्वयं के रोग को दूर करने की क्षमता न हो, यह कैसे संभव है?

शरीर का विवेकपूर्ण एवं सजगता के साथ उपयोग करने की विधि स्वालम्बी जीवन की आधारशीला होती है। मानव की क्षमता, समझ और विवेक जागृत करना उसका उद्देश्य होता है। उपचार में रोगी की भागीदारी मुख्य होती है। अत: रोगी उपचार से पड़ने वाले प्रभावों के प्रति अधिक सजग रहता है, जिससे दुष्प्रभावों की सम्भावना प्राय: नहीं रहती। ये उपचार बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, शरीर विज्ञान की विस्तृत जानकारी रखने वाला साधारण व्यक्ति भी आत्म-विश्वास से स्वयं कर सकता है।

आज चिकित्सा हेतु हिंसा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। अनुचित-आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की जानकारी हेतु करोड़ों जानवरों का प्रति वर्ष विच्छेदन किया जाता है। दवाइयों के निर्माण और उनके परीक्षण हेतु जीव जन्तुओं पर निर्दयता, क्रूरता यातनाएं दी जाती हैं। किसी को दु:ख देकर सुख और शांति कैसे मिल सकती है? जो प्राण हम दे नहीं

सकते, उनको स्वार्थ हेतु लेने का हमें अधिकार किसने दिया? यह तो पशुता एवं अनैतिकता का लक्षण है। हिंसा, क्रूरता, निर्दयता अथवा अन्य विधि द्वारा किसी जीव को स्वयं कष्ट पहुँचाना अथवा ऐसा कृत्य करने वालों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग देना बुरा है, उसके चाहे जो कारण रहे हों। 'जैसा करेंगे वैसा फल मिलेगा,' यह कर्म का सनातन सिद्धान्त है। प्रकृति के न्याय में देर हो सकती है, परन्तु अंधेर नहीं। अहिंसा का प्रचार-प्रसार करने एवं उपदेश देने वाले अनेक संत भी चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाले हिंसा का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष मूक समर्थन करते आज संकोच नहीं करते। चिकित्सा में अहिंसा न केवल उपेक्षित एवं गौण होती जा रही है, अपितु हिंसा को आवश्यक बतलाने का प्रयास किया जा रहा है। उपचार में हिंसा कर्जा चुकाने के लिये ऊँचे ब्याज पर कर्जा लेने के समान नासमझी है।

उपभोगता एवं सुविधावादी जीवन पद्धति तथा स्वार्थ परक चिन्तन शैली ने मानव को शारीरिक और मानसिक रूप से रुग्ण बना दिया है। दर्द सहनशक्ति से परे होता जा रहा है। येन-केन प्रकारेण तुरन्त राहत समय की मांग है। साथ ही बहुत से अहिंसा प्रेमियों को न चाहते हुए भी विवशता पूर्वक रोगोपचार कराते समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा में भागीदार होना पड़ रहा है। आज का मानव भाषणों, लेखों, तर्कों के बजाय उपचार में तुरन्त राहत को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है। आज ऐसे उपचार की आवश्यकता है जो मानव को अहिंसक जीवन जीते हुए तुरन्त रोग मुक्त रख सके तथा यदि किसी कारणवश भूल एवं असजगता से रोग पैदा हो भी गया हो तो, उससे तुरन्त राहत और दुष्प्रभाव रहित उपचार करने में सक्षम हो।

उपचार हेतु चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों को प्राथमिकता देने तथा समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। आजकल अन्य चिकित्सा पद्धतियों से जुड़े चिकित्सक अपने मूल सिद्धान्तों से हटकर आधुनिक चिकित्सा के निदान को आधार मानकर प्रायः उपचार करते हैं। उनमें स्वयं की अधिकांश चिकित्सा के प्रति आत्मविश्वास की कमी स्पष्ट प्रतीत होती है। भूतकाल में आयुर्वेदाचार्य नाड़ी देखकर रोग का सही निदान कर देते थे। उनको सही एवं शुद्ध देशी जड़ी बूटियों का ज्ञान और पहचान थी। दवा बनाते समय वे उपयोगी मंत्रों का उच्चारण करते थे, जिससे दवा का प्रभाव कई गुणा बढ़ जाता था। परन्तु आज आयुर्वेद चिकित्सक कैसे निदान करते हैं? उपचार हेतु कैसी दवा देते हैं, हम सबको विदित है। आजकल तो आयुर्वेद दवाओं का निर्माण भी कारखानों में होना प्रारम्भ हो गया है एवं उनका परीक्षण जानवरों पर होने से उनका प्रभाव सीमित हो रहा है। अतः वर्तमान आयुर्वेद चिकित्सा न तो पूर्ण रूप से अहिंसक है और न प्रभावशाली। योग का भी आजकल योगा के रूप में प्रचलन बहुत चल रहा है। परन्तु पातंजलि के अष्टांग योग में से यम, नियम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि की उपेक्षा कर योगा के आसन और प्राणायाम की विभिन्न विधियों तक सीमित होने से आंशिक लाभ ही प्राप्त हो सकते हैं।

अधिकांश एक्युप्रेशर चिकित्सक भी अपने सिद्धान्तों के अनुसार ही तो रोगों का निदान ही करते हैं और न उपचार। आधुनिक चिकित्सा के निदान को आधार मानकर ही प्रायः नामधारी रोगों का उपचार करते हैं। सहयोगी रोगों की उपेक्षा करने से उपचार अस्थायी और आंशिक प्रभावशाली एवं अधिक समय लेता है, जबकि हथेली और पगथली में सभी दर्दस्थ प्रतिवेदन बिन्दुओं पर उपचार करने से सारे शरीर, मन और मस्तिष्क के विकारों को जल्दी दूर किया जा सकता है और उपचार से असाध्य एवं संक्रामक रोग जल्दी ठीक हो जाते हैं।

मौलिक और वैज्ञानिक चिकित्सा के मापदण्डों को समझने की अत्यन्त आवश्कता है। अन्य चिकित्सकों द्वारा आधुनिक चिकित्सा को अधिक महत्त्व देने से, उनका प्रयास सदैव अपने उपचारों को प्रमाणिक और वैज्ञानिक बतलाने के लिये उनके मापदण्डों को प्राथमिकता देनी पड़ती है। उपचार के परिणामों को आधुनिक परीक्षणों से सत्यापित करना आवश्यक होता हैं जबकि अच्छी चिकित्सा का मापदण्ड तो स्थायी एवं प्रभावशाली परिणाम ही होते

हैं। आधुनिक चिकित्सा जहां भौतिक परिणामों पर आधारित होती है वहीं स्वावलंबी चिकित्सा प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित होने से अधिक प्रभावशाली होती है, परन्तु उसके लिये उसके अनुरूप निदान, उपचार और परहेज अथवा आचरण आवश्यक होता है। पानी पीने से प्यास बुझती है, अग्नि का स्पर्श करने से जलाती है आदि ऐसे सनातन सिद्धान्त हैं जिनके लिए परिणामों को प्रमाणित करने के लिए आकड़ों के संकलन की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार जो उपचार दुष्प्रभावों से रहित हैं और तुरन्त राहत देते हैं, उनको संकलित आंकड़ों के अभाव में स्वीकार न करना, हमारी पूर्वाग्रसित मान्यताओं का दुष्प्रभाव हा सकता है, विज्ञान का सोच नहीं हो सकता। विज्ञान हानि-लाभ का विश्लेषण करता है। आधुनिक दवाओं के प्रभावों का बढ़ा-चढ़ा कर विज्ञापन किया जाता है, परन्तु उससे पड़ने वाले दुष्प्रभावों की उपेक्षा की जाती है। ऐसा सोच और तरीका अपने आपको ही मौलिक एवं वैज्ञानिक तथा अन्य चिकित्सा पद्धतियों को अवैज्ञानिक अथवा वैकल्पिक बतलाने का दावा कैसे कर सकता है? परन्तु हमारी सजगता, भ्रामक विज्ञापनों से प्रभावित हमारे अविवेक, मिथ्या चिन्तन के कारण आज ऐसा ही हो रहा है।

मौलिक चिकित्सा कौनसी? स्वावलंबी या परावलंबी? सहज अथवा दुर्लभ? सरल अथवा कठिन, सस्ती अथवा महंगी? प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृतिक या नित्य बदलते मापदण्डों वाली अप्राकृतिक? अहिंसक अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा, निर्दयता, क्रूरता को बढ़ावा देने वाली? दुष्प्रभावों से रहित अथवा दुष्प्रभावों वाली? शरीर की प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ाने वाली या कम करने वाली? रोग का स्थायी उपचार करने वाली अथवा राहत पहुँचाने वाली? सारे शरीर को एक इकाई मानकर उपचार करने वाली अथवा शरीर का टुकड़ों-टुकड़ों के सिद्धान्त पर उपचार करने वाली? उपर्युक्त मापदण्डों के आधार पर हम स्वयं निर्णण करें कि कौनसी चिकित्सा मौलिक है और कौन सी वैकल्पिक? मौलिकता का मापदण्ड भ्रामक विज्ञापन अथवा संख्याबल नहीं होता। करोड़ों व्यक्तियों के कहने से दो और दो पांच नहीं हो जाते। दो और दो तो चार ही होते हैं। अतः स्वावलंबी चिकित्सा पद्धति मौलिक चिकित्सा पद्धति है, वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति नहीं है।

छोटे-छोटे सिद्धान्तों का आचरण कर सजग व्यक्ति स्वयं को स्वस्थ रख सकता है, भले ही उसको स्वास्थ्य विज्ञान एवं शरीर के आंतरिक भागों की विस्तृत जानकारी न भी हो। जिसका मैंने स्वयं के जीवन में घटित विभिन्न दुर्घटनाओं, हृदयघात जैसे घातक रोग एवं अन्य रोगों में तुरन्त राहत पाकर सुखद अनुभव किया है अपनी क्षमताओं से परिचित न होने तथा सही मार्गदर्शन न मिलने के कारण आज जनसाधारण स्वास्थ्य के प्रति परावलंबी बनता जा रहा है। चिकित्सा के प्रति सजगता एवं सही चिन्तन न होने से अन्धाःनुकरण हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में आपका आरोग्य जनसाधारण के लिए अंधेरे में दीपक का कार्य करेगा। उनमें स्वावलंबी चिकित्सा पद्धतियों के प्रति फैली आशंकाओं का निवारण होगा तथा उपचार में स्वयं की भागीदारी और सजगता बढ़ेगी जिससे उपचार के चमत्कारी परिणाम तुरन्त प्राप्त होने लगेंगे। स्वयं की भागीदारी एवं सजगता न होने से अन्य चिकित्सा पद्धतियों का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं मिलता। ऐसे रोगी परिणाम शीघ्र न मिलने के कारण कभी-कभी स्वावलंबी चिकित्सा पद्धतियों के निन्दक बन जायें तो भी आश्चर्य नहीं। प्रत्येक रोगी को समयावधि के अल्पता के कारण उपचार संबंधी विस्तृत तथ्यों की विस्तृत जानकारी देना भी संभव नहीं होता और न रोगी रोग से परेशान होने के कारण सच्चाई को जानना, समझना और सुनना तथा स्वयं कुछ करना ही चाहता है। जब स्वावलंबी चिकित्सा स्वयं देखा-देखी परावलंबी चिकित्सा पद्धतियों के सिद्धान्तों पर कार्य करने लगती है, तो रोगी को अपेक्षित लाभ कैसे मिल सकता है?

उपचार सस्ता और सरल होने स न तो परामर्शदाता को अपेक्षित अर्थ उपार्जन करवा सकता है और दवा कंपनियों की भांति महंगे विज्ञापनों द्वारा प्रचार-प्रसार ही संभव होता है। अपने प्रशिक्षण शिविरों एवं टेलीफोन द्वारा

रोगियों का मार्गदर्शन करते समय ऐसी पुस्तक का अभाव अनुभव हो रहा था जो आम व्यक्ति को स्वास्थ्य के बारे में सही दिशा एवं ज्ञान दे सके। अतः मैंने 'स्वस्थ रहें अथवा रोगी : फैसला आपका' एवं भोजन के संबंध में 'क्या बुद्धिमान व्यक्ति मांसाहारी हो सकता है?' तथा 'भोजन एवं स्वास्थ्य' का प्रकाशन करवाया, जिसको पाठकों ने बहुत पसन्द किया। उसी श्रृंखला में आरोग्य आपका का भी प्रकाशन किया गया है जिसे लाखों पाठकों ने सराहा तथा लाभ प्राप्त किया है।

अधिकांश उपचार हमारे घर में प्रायः उपलब्ध होते हैं और बालक-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, परिचित-अपरिचित, सिद्धान्तों की साधारण सी जानकारी के पश्चात् स्वयं कर सकते हैं। जैसे स्विच चालू करने की कला जानने वाला बिजली के उपकरणों का उपयोग आसानी से कर सकता है। उसे यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि बिजली का आविष्कार किसने, कब और कहां किया? बिजलीघर से बिजली कैसे आती है? कितना वोल्टेज, करेन्ट और फ्रिक्वेन्सी है? मात्र स्विच ऑन करने की कला जानने वाला उपलब्ध बिजली का उपयोग कर सकता है। विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों की ऐसी साधारण जानकारी से न केवल अपने आपको स्वस्थ ही रख सकता है, अपितु असाध्य से असाध्य रोगों का बिना किसी दुष्प्रभाव के प्रभावशाली ढंग से उपचार भी कर सकता है।

किसी बात को बिना सोचे-समझे स्वीकार करना यदि मूर्खता है तो अनुभूत सत्य को बिना सम्यक् चिन्तन एवं तर्क की कसौटी पर कसे बिना, प्रचार-प्रसार के अभाव में पूर्वग्रसित गलत धारणाओं के कारण अस्वीकार करने वालों को कैसे बुद्धिमान कहा जा सकता है? जिस प्रकार रत्न की पहचान डॉक्टर, वकील, नेता अथवा सेनापति नहीं कर सकता, उसके लिये जौहरी की दृष्टि चाहिए, ठीक उसी प्रकार शरीर की अनन्त क्षमताओं को समझने के लिये सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक् आचरण आवश्यक होता है। पुस्तक का अध्ययन करते समय पाठक कृपया उन मापदण्डों का अवश्य ध्यान रखें, ऐसी अपेक्षा है। पुस्तक में जो बातें आपको उपयोगी लगें, उनको स्वविवेक एवं सजगता के साथ आचरण में लाकर दीर्घ काल तक स्वस्थ जीवन जीनें का प्रयास करें और यदि रोग ग्रस्त हैं तो रोग मुक्त हो सकें ऐसी मंगल भावना करता हूँ। पुस्तक पाठकों में अहिंसा और स्वावलम्बन के प्रति तनकि भी आस्था पैदा कर सकेगी तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा।

सबका मंगल हो, सबका कल्याण हो, सभी शांत, प्रसन्न, स्वस्थ एवं रोग मुक्त हों।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि परश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्रुयात्।।

डॉ. चंचलमल चोरडिया

मानव जीवन और स्वास्थ्य

स्वास्थ्य का महत्त्व :-

स्वस्थ जीवन मानव की सर्वोच्य आवश्यकता है। अच्छे स्वास्थ्य के बिना मानव न तो शान्त, सुखी, आनन्दित जीवन-यापन कर सकता है और न ही अपने लक्ष्यों की पूर्ति आसानी से कर सकता है। अस्वस्थ शरीर सुखी जीवन को दुःखी बना सकता है, इसी कारण तो कहावत प्रचलित है- ''पहला सुख निरोगी काया।'' यह बात इस प्ररिप्रेक्ष्य में सच साबित होती है। स्वास्थ्य जो तन, मन और आत्मा के एक सन्तुलित, अनुशासित, समन्वय का प्रतीक है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे बाजार से खरीदा जा सके अथवा उधार लिया जा सके या चुराया जा सके। ये सारी बातें जानते, मानते

और समझते हुए भी आज का मानव कितना स्वस्थ एवं सुखी हैं, प्राय किसी से अज्ञात नहीं है। प्रत्येक मानव दीर्घायु बन आजीवन स्वस्थ रहना चाहता है, परन्तु चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो जाता। यदि हमें स्वस्थ रहना है तो रोग पैदा करने वाले कारणों से अपने आपको दूर रखना होगा।

स्वास्थ्य हेतु क्षमताओं का सुदपयोग आवश्यक :-

स्वस्थ रहने के लिए यह जानना आवश्यक है कि **स्वास्थ्य क्या है? स्वस्थ कौन होता है? रोग क्या है? रोग क्यों, कब और किसे होता है? हमें उन सभी कारणों को जानना और समझना आवश्यक है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमारा स्वास्थ्य बिगाड़ने में सहायक बनते हैं। हमारी रोग प्रतिरोधक क्षमता घटाते हैं। शरीर मन और आत्मा के विकारों को बढ़ाते हैं। उनका आपसी सन्तुलन बिगाड़ते हैं, स्वस्थ रहना भी एक कला है, एक विज्ञान है, एक दृष्टि, सोच अथवा चिन्तन का प्रतिफल है जिसके लिए विवेकपूर्ण उचित ज्ञान, साधन और सम्यक् पुरुषार्थ अनिवार्य है।** प्राप्त क्षमताओं का अधिकाधिक प्राथमिकता के आधार पर उपयोग कर तथा स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विकारों से अपने आपको बचाकर ही हम स्वस्थ जीवन जी सकते हैं। एक तरफ तो हम चिकित्सा करें और दूसरी तरफ असंयम में रहें, इन्द्रियों में आसक्त बने रहें, तो स्वास्थ्य कैसे प्राप्त होगा? जीवन के साथ मृत्यु निश्चित है। जन्म के साथ आयुष्य के रूप में श्वास यानी प्राण ऊर्जा का जो खजाना लेकर हम जन्म लेते हैं, वह धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। **जीवन के अंतिम क्षणों तक प्राण ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित, नियिन्त्रित एवं सही संचालित करके तथा उसका सही उपयोग करके ही हम शान्त, सुखी और स्वस्थ जीवन जी सकते हैं।**

स्वास्थ्य की उपयोगिता का आभास रोगावस्था में :-

किसी वस्तु का मूल्य उसका अभाव होने पर ही पता लगता है। वस्तु का मूल्य समझे बिना उसका सदुपयोग बराबर नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार स्वस्थ शरीर के महत्त्व का पता भी स्वास्थ्य के नष्ट हो जाने अथवा वृद्धावस्था आ जाने पर ही लगता है। संसार के सभी दु:खों का कारण अज्ञान है। इसी प्रकार सभी रोगों का कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पूर्ण और सही ज्ञान न होना तथा उनका उल्लंघन करना है। प्रकृति किसी भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी को कभी क्षमा नहीं करती। प्राय: वृद्धावस्था में तो स्वास्थ्य का महत्त्व प्रत्येक मानव को अनुभव होत ही है क्योंकि, **जवानी कभी लौट कर नहीं आती और बुढ़ापा कभी लौट कर नहीं जाता।**

जीवन में स्वास्थ्य को प्राथमिकता क्यों आवश्यक?

जीवन में पद, पैसा, प्रतिष्ठा आदि का महत्त्व है, परन्तु उसकी प्राप्ति हेतु स्वास्थ्य की उपेक्षा कदापि उचित नहीं। परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह आवश्यक है, परन्तु स्वयं के स्वास्थ्य को गौण कर नहीं। धन से हमें अच्छे से अच्छा भोजन मिल सकता है, परन्तु भूख नहीं। दवा मिल सकती हैं, परन्तु स्वस्थ्य नहीं। भोग-विलास की वस्तुएँ मिल सकती हैं, परन्तु उनके भोगने की क्षमता नहीं। अच्छा पलंग मिल सकता है, परन्तु अच्छी निद्रा नहीं। संसार के सारे-वैभव एव सम्पति नष्ट होने के पश्चात् उसका पुन: प्राप्त करना कठिन होता है। इसलिए योगी हो या भोगी, दोनों को अपने-अपने उद्धेश्यों की प्राप्ति के लिए स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन की आवश्यकता होती है। मानव के सारे क्रियाकलाप शरीर के आश्रित हैं तथा शरीर के अस्तित्व में आने पर ही प्रारम्भ होते हैं तथा उसके निष्प्राण होते ही समाप्त हो जाते हैं। तभी तो उपनिषदों में कहा गया- **शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्।**

मानव की जीवन यात्रा इस शरीर रूपी वाहन द्वारा ही सम्पन्न होती है। यदि वह वाहन अच्छा और शक्तिशाली होगा तथा जीवन यात्रा के दौरान इसकी उचित देखभाल की जाती रहेगी एवं क्षमता से ज्यादा भार डाल कर इसका

दुरुपयोग नहीं किया जाएगा तो यह अपनी यात्रा निश्चित अवधि तक निर्विघ्न रूप से पूर्ण करेगा और इसमें यात्रा करने वाला मानव अधिक सुखद व लम्बी यात्रा कर सकेगा, अन्यथा एक खटाला गाड़ी में बैठकर दु:खद व बाधापूर्ण यात्रा करनी पड़ेगी और बीच राह में ही गाड़ी के खराब हो जाने से आगे की यात्रा के लिए असमय ही नया शरीर रूपी वाहन खोजना पड़ जाएगा।

स्वास्थ्य हेतु प्राकृतिक नियमों का पालन अनिवार्य :-

एक साधारण से यंत्र वाहन अथवा कम्प्यूटर जैसे उपकरण से भी उचित व निर्विघ्न सेवा प्राप्त करे के लिए यह आवश्यक है कि उसके निर्माता द्वारा बतलाई हुई संचालन नियमावली (Operating Instruction) के अनुसार ही उसे चलाया जाए। नियमित उचित सफाई द्वारा उसे खराब होने से बचाया जावे तथा उसमें वे ही तरल पदार्थ (Lubricant) डाले जाएँ जो उस उपकरण की कार्य क्षमता में अवरोधक न बन उसे सुचारू रूप से चलाने में सहायक हो। तब क्या इस दुनिया की सर्वोत्तम मानव शरीर रूपी मशीन से पूर्णकाल तक निर्विघ्न सेवा प्राप्त करने के लिए, इसकी नियमानुसार देखभाल करना आवश्यक नहीं है ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? जैसे नियमित सर्विस, उत्तम श्रेणी का तेल व जल उचित मात्रा में प्रयोग करने व उसकी टयूनिंग भंग नहीं होने देने से कोई भी वाहन उत्तम सेवा देता है, वैसे ही उचित आहार-विहार, आचार-विचार, रहन-सहन एवं प्रकृति के साथ तालमेल रखने से यह शरीर भी स्वस्थ रहता है तथा अपनी पूर्ण अवधि तक निर्विघ्न सेवा प्रदान करता है। अत: शरीर की गर्भकाल से ही उचित देखभाल करनी चाहिए। अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियाँ, जितना रोगों के उपचार को महत्त्व देती है, उतना रोगों की रोकथाम को नहीं देती। स्वास्थ्य मंत्रालय का जितना बजट रोगों के उपचार का होता है, उससे शतांश भी रोगों की रोकथाम हेतु नहीं होता।

स्वास्थ्य के प्रति स्वयं की सजगता आवश्यक :-

शरीर, मन और आत्मा के बारे में अधिकांश व्यक्तियों को जानने, सोचने, समझने की जिज्ञासा ही नहीं होती। स्वास्थ्य के बारे में हमारी सोच पूर्णतया सही नहीं होती। क्या गलत? क्या ठीक? क्या उचित? क्या अनुचित? क्या प्राथमिक, अति आवश्यक? क्या साधारण, क्या करणीय? क्या अकरणीय? प्रत्येक तथ्य का कारण एवं मूल क्या? क्यों? कब? कितना जानने का प्रयास करें, समस्या अथवा रोग का पता लग जाएगा। शरीर क्या स्वीकार करता है और क्या नहीं, समझ में आ जाएगा।

हमारी अधिकांश गतिविधियाँ प्राय विज्ञापन पर आधारित अन्धा:नुकरण की होती है। प्राय: उनके साथ मन और मस्तिष्क न जुड़ने से व्यक्ति स्वयं पर पड़ने वाले अच्छे अथ्वा बुरे प्रभावों की समीक्षा नहीं करता। उदाहरण के लिए प्रात:काल भ्रमण स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है परन्तु जिनके दोनों पैरों में संतुलन न हो, एक पैर बड़ा और दूसरा छोटा हो और यदि ऐसे व्यक्ति पैरो में संतुलन किए बिना घूमने लगे तो लाभ के स्थान पर हानि ज्यादा होने की सम्भावना रहती है। अत: जिस प्रवृत्ति अथवा उपचार से रोग बढ़े, उन्हें तुरन्त बन्द करना ही स्वयं की सजगता है।

अधिकांश रोग प्राय: स्वयं की गलतियों, उपेक्षावृत्ति से उत्पन्न होते हैं। हमें क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा लगता है, और क्यों? परन्तु जो आँखों को प्रिय लगे, कानों को प्रिय लगे, रसनेन्द्रिय को अच्छा लगे, मन आदि को अच्छा लगे, वह हमारे लिए हितकर हो यह आवश्यक नहीं। अत: सभी का सामन्जस्य आवश्यक है। हम इन्द्रियों के उन्हीं विषयों को ग्रहण करें, जो शरीर के लिए हानिकारक न हो। शरीर के साथ-साथ मन और आत्मा की शक्ति बढ़ाने वाला हो। यही तो स्वयं की सजगता होती है।

उपचार की प्रचलित विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ तो मात्र भौतिक प्रक्रिया है। अच्छे चिकित्सक को उसे रोगी के अनुसार समझना होगा। जो घटना रोगी के शरीर में घटती है, उससे दोस्ती करनी पड़ेगी। रोगी के स्वभाव एवं रुचि में परिवर्तनों का रोग से सम्बन्ध मालूम करना पड़ेगा। रोगी को भी रोग का आभास होते ही अपने पिछले 48 घण्टों की गतिविधियों, गलतियों, असावधानियाँ अथवा स्वयं द्वारा किए गए गलत आचरण का सूक्ष्मतम विवेचन करना होगा, जिसके परिणामस्वरूप रोग के लक्षणों को शरीर में प्रकट होने हेतु प्रोत्साहन मिला। यदि रोगी इतना सजग होगा तो रोग का कारण निश्चित रूप से पता चल जाएगा। सही निदान होते ही उपचार स्वयं प्रभावशाली हो जाएगा।

स्वस्थ रहना स्वयं के हाथ :-

अच्छे स्वास्थ्य की चर्चा और चिन्तन करने से पूर्व हमें यह जानना और समझना आवश्यक है कि अच्छा स्वास्थ्य किसे कहते हैं? स्वास्थ्य का सम्बन्ध का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-परोक्ष किससे होता है? स्वास्थ्य बिगाड़ने वाले विविध कारण क्या हो सकते है? उनसे यथासंभव कैसे बचा जा सकता है? क्या स्वयं के अज्ञान, अविवेक, असजगता के कारण असंयमित, असंतुलित और अप्राकृतिक हमारी जीवन शैली से तो रोग पैदा नहीं होते हैं? उनकी उपेक्षा कर दीर्घकाल तक पूर्ण स्वस्थ रहने की हमारी कल्पना, क्या आग लगाकर ठण्डक प्राप्त करने जैसी मूर्खतापूर्ण तो नहीं है? क्या हमारी श्वास अन्य व्यक्ति ले सकता है? क्या हमारा निगला हुआ भोजन दूसरा व्यक्ति पचा सकता है? क्या हमारी प्यास किसी अन्य व्यक्ति के पानी पीने से शान्त हो सकती है? क्या हमारा दर्द, पीड़ा, वेदना हमारे परिजन ले सकते हैं? प्रायः रोग के प्रमुख कारण रोगी की स्वयं की असावधानी से पैदा होते हैं? अपनी स्थिति से जितना हम स्वयं परिचित होते है, दूसरा उतना परिचित हो नहीं सकता। यंत्र और रासायनिक परीक्षण तो मात्र शरीर में होने वाले भौतिक परिवर्तनों को बतलाने में तनिक सहायता कर सकते हैं। आसपास का प्रदूषित वातावरण, पर्यावरण, अशुद्ध भोजन सामग्री, पानी और वायु रोगों का कारण हो सकते हैं। परन्तु शरीर की प्रतिरोधक क्षमता ठीक हो तो बाह्य कारण अकेले रोगग्रस्त नहीं बना सकते। जब रोग व्यक्ति के स्वयं की गलतियों से ज्यादातर पैदा होता है। तो स्वास्थ्य को बनाए रखने तथा रोग होने पर रोगी की सजगता, भागीदारी, सम्यक् चिन्तन और पुरुषार्थ का सर्वाधिक महत्त्व होता है।

स्वास्थ्य क्या हैं?

स्वास्थ्य का मतलब है- रोग-मुक्त जीवन। **स्वास्थ्य तो तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है। अर्थात् शरीर, मन और आत्मा, तीनों जब ताल से ताल मिलाकर कार्य करें। शरीर की सारी प्रणालियाँ एवं सभी अवयव सामान्य रूप से स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करें, किसी के भी कार्य में कोई अवरोध अथवा आलस्य न हो और न उनको चलाने के लिए किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता पड़े।** शरीर का तंत्र अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग से कार्य करे, मन का चिन्तन और आचरण सम्यक् हो, अर्थात् मन में बैचेनी न हो, सारे अंग और क्रियाएँ सन्तुलित हो, असन्तुलित न हो। सारी प्रवृत्तियाँ सहज और स्वाभाविक हो, अस्वाभाविक न हो। अर्थात् जिसका पाचन और श्वसन बराबर हो, नियमित हो। अनुपयोगी अनावश्यक विजातीय तत्त्वों का निष्कासन सही हो। भूख प्राकृतिक लगती हो। निद्रा स्वाभाविक आती हो। पसीना गन्धहीन हो, त्वचा मुलायम हो, बदन गठीला, कमर सीधी हो, खिला हुआ चेहरा एवं आँखों में चमक हो। नाड़ी, मज्जा, अस्थि, प्रजनन एवं लसिका आदि सभी तंत्र शक्तिशाली हो तथा अपना कार्य पूर्ण क्षमता से करने में सक्षम हो। जो आत्म विश्वासी, दृढ़ मनोबली, सहनशील, धैर्यवान, निर्भय, तनाव व चिन्ता मुक्त, साहसी और जीवन के प्रति उत्साही हो, जिसके मन में शान्ति हो, सरलता हो। जिसका स्वचिन्तन, प्रज्ञा और स्वविवेक जाग्रत हो तथा जिसका मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो, विचारों में पूर्वाग्रह न हो, सत्य के प्रति

समर्पित हो, जो पूर्ण अहिंसक हो, स्वावलम्बी हो। जो निस्पृही तथा निरहंकारी हो। जिसकी प्राथमिकताएँ एवं लक्ष्य क्षमताओं के अनुरुप सम्यक् हों तथा जो प्राकृतिक सनातन नियमों का पालन करता हो। जिसके सारे कार्य समय पर होते हों तथा जीवन नियमबद्ध हो। वास्तव में पूर्ण स्वस्थता के मापदण्ड तो यही है। जितने-जितने अंशों में उपर्युक्त तथ्यों की प्राप्ति होगी उसी अनुपात में, सही स्वरूप में हम स्वस्थता के समीप होंगे, इसके विपरीत स्थिति पैदा होने पर अपने आपको स्वस्थ मानना स्वस्थ बनाने का दावा करना न्याय संगत नहीं।

वस्तुतः स्वस्थ कौन?

स्वस्थ का अर्थ होता है, स्व में स्थित हो जाना। अर्थात् स्वयं पर स्वयं का नियंत्रण, अनुशासन अथवा पूर्ण स्वावलम्बन। अपने स्वभाव में रहना। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों परिस्थितियों में समभाव बनाएं रखना, सन्तुलित रहना, राग और द्वेष से परे हो जाना। ऐसी अवस्था में शरीर निरोग, मन निर्मल, विचार पवित्र और आत्मा शुद्ध हो जाती है। स्व का मतलब आत्मा हैं अतः आध्यात्मिक दृष्टि में आत्म स्वभाव में रहने वाला ही स्व में स्थित अर्थात् स्वस्थ होता है।

पेट नरम, पैर गरम, और सिर ठण्डा : अच्छे स्वास्थ्य के सूचक :-

सभी प्रकार के रोगों की अभिव्यक्ति शरीर में विभिन्न असंतुलनों के रूप में प्रकट होती है। एक महत्त्वपूर्ण लोकोक्ति प्रचलित है- **''पेट नरम, पैर गरम और सिर ठण्डा, फिर डॉक्टर आवे तो मारो डण्डा।''** कितनी यथार्थपूर्ण है। जो शारीरिक श्रम करेगा उसकी पगतली कभी ठण्डी नहीं होती है। जिसका पाचन सही रहेगा और अवांछित तत्त्वों का शरीर से निष्कासन बराबर होगा, उसका पेट नरम, स्वच्छ होगा। इसलिए तो कहा गया है- **''पेट साफ तो सब रोग माफ।''** इसी प्रकार जो तनाव-मुक्त होगा, चिन्ता-मुक्त होगा और मस्त रहेगा उसका सिर ठण्डा रहेगा। अर्थात् शारीरिक श्रम, सुव्यवस्थित पाचन एवं तनाव मुक्त अनासक्त जीवन शैली स्वास्थ्य का आधार होता है। जिस प्रकार खेत में बीज बोने से पूर्व उसकी सफाई आवश्यक है। फूटे हुए घड़े को भरने से पहले छिद्र को बन्द करना जरूरी है। तालाब को खाली करने से पहले उसमें आते हुए पानी को रोकना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार उपचार से पूर्व रोग के कारणों से बचना आवश्यक है।

स्वास्थ्य के लिए स्वयं का संयम और सम्यक् पुरुषार्थ आवश्यकः-

रोग होने के कारणों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो स्वय से सम्बन्धित और दूसरा अन्य बाह्य वातावरण अथवा परिस्थितियों से संबंधित। जो रोग स्वयं से सम्बन्धित होता है, उसका उपचार तो स्वयं के द्वारा ही सम्भव होता है। परावलम्बन बन्धन है, फिर वह चाहे डॉक्टर का हो या दवा का। स्वयं के द्वारा स्वयं की चिकित्सा करने की विधि को ही स्वावलम्बी चिकित्सा कहते है। अतः व्यक्ति के स्वयं पर निर्भर करता है कि वह रोग-ग्रस्त जीवन जीना चाहता है या स्वस्थ जीवन। चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य नहीं मिलता अपितु स्वस्थ जीवन जीने के लिए सजगता, नियमितता सम्यक् पुरुषार्थ आवश्यक है।

जीवन के लिए भोजन,पानी, हवा, धूप जैसी प्राकृतिक ऊर्जाओं का आलम्बन, सहयोग आवश्यक होता है। शारीरिक प्रक्रियाओं को चलाने, शरीर के अवयवों को बनाने में दवा का उपयोग अथवा बाह्य साधनों पर निर्भर रहना परावलम्बनता है। स्वावलम्बन स्वास्थ्य का प्रतीक है तो परावलम्बन रोग का सूचक। स्वावलम्बन का आधार होता है-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा व सम्यक् आचरण। प्राथमिकताओं और लक्ष्य का सही चयन, क्षमता और आवश्यकताओं का सही सन्तुलन एवं समन्वय। अतः जो चिकित्सा पद्धतियाँ व्यक्ति को जितना-जितना स्वावलम्बी

बनाने में सक्षम होती हैं वे उतनी अधिक उपयोगी एवं प्रभावशाली होती है। उपचार स्थायी और दुष्प्रभावों से रहित होता है। आज सबसे बड़ी समस्या अपने आप पर अनास्था की है। अपनी क्षमताओं से अनभिज्ञता की है। हमारे चिन्तन, सोच का समस्त आधार भीड़, विज्ञापन, अन्धा:नुकरण, बाह्य वातावरण होता है न कि स्वविवेक, सम्यक् चिन्तन्। हम भूल जाते हैं कि करोड़ों सूर्यो की अपेक्षा व्यक्ति के लिए आँख का महत्त्व अधिक है।

आरोग्य दो प्रकार के होते हैं। (1) स्वाभाविक, (2) कृत्रिम। प्रकृति के नियमों का पालन कर जो आरोग्य प्राप्त किया जाता है वह स्थायी एवं स्वाभाविक होता है। रोगग्रस्त बनने के पश्चात् दवा एवं चिकित्सकों की सहायता और परामर्श से प्राप्त आरोग्य कृत्रिम व अस्थायी होता है।

शक्ति बिना स्वास्थ्य नहीं :-

स्वास्थ्य का आधार होता है ऊर्जा, शक्ति, ताकत, बल आदि। शक्ति और स्वास्थ्य को कभी अलग नहीं किया जा सकता। कमजोर आदमी कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। यदि हमारा शरीर, मन और भावना के स्तर पर कमजोर है और हम शान्ति की कामना करें तो वह कभी सम्भव नहीं हो सकता। जिसके ये तंत्र कमजोर हैं वह जरा-सी प्रतिकूलता में विचलित हो जाएगा।

शान्ति की पहली शर्त है-शक्ति का विकास। हम शक्तिशाली बनें, अपनी शक्ति का विकास करें। क्रम से चलें। पहले स्तर पर है-आत्मिक शक्ति का विकास। दूसरे स्तर पर है-मानसिक शक्ति या मनोबल का विकास और तीसरे स्तर पर है-मानसिक शक्ति का विकास। शरीर में भी ज्ञान, नाड़ी आदि सभी तंत्र भी मजबूत होने चाहिए। शारीरिक शक्ति का मतलब शारीरिक सौष्ठव नहीं है। बहुत वजन उठा लेना या कुश्ती में जीतना ही नहीं है। शारीरिक शक्ति के विकास का अर्थ नाड़ी, ग्रन्थि, ज्ञान तंत्र, मस्तिष्क, मेरूदण्ड आदि का मजबूत होना है। यह सभी शक्तियाँ जिसमें विकसित होती है, उसे शक्तिशाली कहते हैं। आत्मिक विकास, मनोबल का विकास और शारीरिक विकास, इन तीनों का समन्वय ही शान्ति का आधार है। युद्ध में हजारों योद्धाओं को जीतने वाला वीर अपने इन्द्रियों और मन के विकारों से क्यों परास्त हो जाता हैं? परन्तु हम जितनी चिन्ता शरीर की करते हैं, उतनी जो देखने वाली, जानने वाली, समझने वाली, उसको चलाने वाली आत्मा की प्रायः नहीं करते।

आरोग्य एवं निरोगता में अन्तर :-

निरोग का मतलब शरीर रोग उत्पन्न ही न हो जबकि आरोग्य का मतलब शरीर में रोगों की उपस्थिति होते हुए भी हमें इनकी पीड़ा और दुष्प्रभावों का अनुभव न हो। आज हमारा सारा प्रयास प्रायः आरोग्य रहने तक ही सीमित हो गया है। आज हम मात्र शारीरिक रोगों को ही रोग मान रहे हैं। चेतनाशील प्राणी को ही रोग की अनुभूति होती है। मृत्यु के पश्चात् निर्जीव शरीर अथवा जड़ या अचेतन अवस्था में रोग की अनुभूति नहीं होती। जीव, आत्मा का पर्यायवाची शब्द है। आत्मा की अशुद्ध अवस्था अथवा विभाव दशा ही रोग का प्रतीक है। आत्मा के बिना न तो शरीर का अस्तित्व होता है, न मन व वाणी ही चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। अतः जब तक आत्मा अपनी शुद्धवस्था को प्राप्त नहीं होगी, हम किसी न किसी रोग से अवश्य पीड़ित होंगे अर्थात् निरोग नहीं बन सकते।

आत्मिक रोग शारीरिक और मानसिक रोगों से ज्यादा खतरनाक हैं, जो हमें जन्म-मरण एवं विभिन्न योनियों में भटकाने वाले हैं। शारीरिक रूप से भी निरोग बनना प्रायः असम्भव लगता है। रोग चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक अथवा आत्मिक, उसका प्रभाव तो शरीर पर ही होगा। अभिव्यक्ति तो शरीर के माध्यम से ही होगी, क्योंकि आत्मा तो अरूपी है और मन को भी हम अपने चर्म चक्षुओं द्वारा देखने में असमर्थ हैं। मुख्य रूप से रोग आधि

(मानसिक), व्याधि (शारीरिक), उपाधि (कर्म-जन्य) के रूप में ही प्रकट होते हैं। अत: आधि, व्याधि और उपाधि का शमन करने से ही समाधि, स्वस्थता एवं परम शान्ति अर्थात् निरोग अवस्था की प्राप्ति हो सकती है।

शारीरिक दृष्टि से निरोग रहने के लिए आवश्यक है कि यथा-सम्भव प्राकृतिक नियमों का पालन किया जाए। शुद्ध हवा, शुद्ध पानी, शुद्ध सात्विक एवं पौष्टिक आहार उचित मात्रा में आवश्यकतानुसार पाचन के नियमानुसार उचित समय ग्रहण किया जाए। नियमित धूप का सेवन किया जाए तथा व्यायाम, आराम, निद्रा का ध्यान रखा जाए। नियमित स्वाध्याय, ध्यान, मौन, उपवास, इन्द्रिय संयम, प्राणायाम किया जाए तथा तनाव के कारणों से यथासम्भव बचा जाए। शारीरिक क्षमता के अनुरूप ही श्रम किया जाए तथा मल और पेशाब आदि शरीर के विकारों का विसर्जन करने वाली प्रक्रियाओं को न रोका जाए। इन नियमों की उपेक्षा कर अपने आपको निरोग रखने की कल्पना आग लगाकर ठण्डक प्राप्त करने के समान होगी। जैसे - ''फूटे घड़े को सात समुद्रों का पानी भी भरा हुआ नहीं रख सकता।'' ठीक उसी प्रकार रोग के कारणों से बच कर अथवा दूर किए बिना कोई भी चिकित्सा पद्धति मानव शरीर को भी पूर्णरूपेण निरोग नहीं रख सकती।

मायावी नारों से स्वास्थ्य नहीं मिलता :-

सोते को जगाया जा सकता है परन्तु जो आधुनिकता के नाम पर अन्धा:नुकरण एवं विज्ञापन को ही चिकित्सा का आधार मान अपने चिन्तन/ गवेषणा को सुसुप्त किए हुए हैं, उनको स्वयं के प्रति भी कैसे ईमानदार समझा जावें?

आज राष्ट्रीय आचरण, नैतिकता, स्वास्थ्य के प्रति सजगता नारों तक सीमित होती जा रही हैं। विज्ञापन, मायावृत्ति, स्वार्थ पोषण एवं अन्धा:नुकरण के इस युग में कभी-कभी जो नहीं पढ़ना चाहिए, वह पढ़ाया जा रहा है। जो नहीं खिलाना चाहिए, वह खिलाया जा रहा है। जो नहीं कराया जाना चाहिए, वह कराया जा रहा है। जो नहीं दिखाना चाहिए, उसे दिखाया जा रहा है। सम्पूर्ण वातावरण पाशविक वृत्तियों से दूषित हो रहा है। सरकारी तंत्र को सच्चाई जानने, समझने में कोई रुचि नहीं है। उनका आधार है भीड़, संख्या, बल। क्योंकि जनतंत्र में उसी के आधार पर उनका चुनाव होता है। फलत: उनके माध्यम से राष्ट्रविरोधी, जनसाधारण के लिए अनुपयोगी, स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली कोई भी गतिविधि आराम से चलाई जा सकती है।

मानव शरीर की विशेषताएँ

मानव जीवन अमूल्य :-

मानव जीवन की संरचना विश्व की एक अद्‌भूत आश्चर्य है। उसके रहस्य को दुनियाँ का बड़े से बड़ा डॉक्टर और वैज्ञानिक पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है। मस्तिष्क जैसा सुपर कम्प्यूटर, हृदय एवं गुर्दे जैसा रक्त शुद्धिकरण यंत्र, आमाशय, तिल्ली, लीवर जैसा रासायनिक कारखाना, आँख के समान कैमरा, कान के समान श्रवण यंत्र, जीभ के समान वाणी एवं स्वाद यंत्र, लिम्फ प्रणाली जैसी नगर निगम के समान सफाई व्यवस्था, नाड़ी तंत्र के समान मीलों लम्बी संचार व्यवस्था, अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के समान सन्तुलित, नियंत्रित, संयमित, न्यायिक, प्रशासनिक व्यवस्था, अवांछित तत्त्वों के विसर्जन की व्यवस्था, प्रकाश से भी तेज गति वाला मन इत्यादि अन्यत्र निर्मित उपकरणों अथवा अन्य चेतनाशील प्राणियों में एक साथ मिलना असम्भव है। शरीर के ऊपर त्वचा न होती तो कैसी स्थिति होती? क्या हमने कभी कल्पना की?

शरीर अपने लिए आवश्यक रक्त, मॉस, मज्जा, इड्डियॉ, वीर्य आदि तत्त्वों का निर्माण चेतना के सहयोग से स्वयं करता है, जिसे अन्यत्र प्रयोगशालाओं में बनाना अभी तक सम्भव नहीं हुआ है। हमारे शरीर में पसीने द्वारा त्वचा के छिद्रों से पानी तो आसानी से बाहर आ सकता है, परन्तु पानी में त्वचा को रखने से, उन छिद्रों से पानी भीतर नहीं जा सकता। प्रत्येक शरीर का कुछ न कुछ वजन होता है, परन्तु चलते-फिरते शायद ही किसी को अपना वजन अनुभव होता है। हमारे शरीर का तापक्रम साधारणतया: 98.4 डिग्री फारेहनाइट होता है, भले ही बाहर कितनी ही सर्दी अथवा गर्मी में सहारा मरूस्थल जैसे गर्म स्थानों पर, शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारेहनाइट ही रहता है। हम देखते हैं जब कभी ऑधी या तेज हवाएँ चलती है, तब हल्के पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़कर चले जाते हैं। परन्तु हलन-चलन, उठने-बैठने एवं दौड़ने के बावजूद शरीर की कोई भी नाड़ी अपना स्थान नहीं छोड़ती। यदि हम शीर्षासन करें तो हृदय अपना स्थान नहीं छोड़ता। शरीर के सभी अंग, उपांग, नाड़ियाँ, हड्डियाँ, हलन-चलन के बावजूद कैसे अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं? वास्तव में आश्चर्य है।

शारीरिक क्षमताओं का दुरुपयोग अनुचित :-

यदि कोई लाखों रुपये के बदले आपके शरीर का कोई अंग, उपांग अथवा इन्द्रियाँ आदि लेना चाहे तो यथा-सम्भव कोई व्यक्ति नहीं देना चाहेगा। क्योंकि पैसों से उन अंगों को पुन: प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहाँ तक लाखों रुपयों के बदले यदि आपको 15 मिनट श्वास रोकने का आग्रह करें तो क्या आप ऐसा करना चाहेंगे? नहीं! कदापि नहीं। मृत्यु के पश्चात् उस पैसे क्या उपयोग? क्या हमने कभी सोचा कि ऐसी अमूल्य श्वास से जो हमें प्रतिक्षण नि:शुल्क मिल रही है उसे हम बराबर तो ले रहे हैं अथवा नहीं? इतने अमूल्य मानव जीवन का उपयोग हम कैसे कर रहे हैं? यदि कोई रुपयों के नोटों के बण्डल को चाय बनाने के लिए ईंधन के लिए जलाएँ तो हम उसे मूर्ख अथवा पागल कहते हैं। तब इस अमूल्य मानव जीवन की क्षमताओं का दुरुपयोग अथवा अपव्यय करने वालों को क्या कहा जाए? बुद्धिमान व्यक्ति के लिए चिन्तन का प्रश्न है? कहीं हमारा आचरण अरबपति बाप के भिखारी बेटे जैसा तो नहीं, जो अपने पास अपार सम्पत्ति होते हुए भी अपने आपको भिखारी, गरीब, दरिद्र मान कर दर-दर भीख मांग रहा है? उसी प्रकार जिस शरीर में इतने अमूल्य उपकरण हो, उस शरीर में अपने आपको स्वस्थ रखने की व्यवस्था न हो, कैसे सम्भव है?

जरा चिन्तन करें, कहीं मानव जीवन रूपी दुनिया की सर्वश्रेष्ठ गाड़ी, हमारी स्वछन्द मनोवृत्तियों रूपी अनाड़ी ड्राइवर के हाथों में तो नहीं है? पेट्रोल की गाड़ी को केरोसिन से कब तक ढंग से चलाया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जीवन में सद्गुणों रूपी ऊर्जा के रूप में उपलब्ध सनातन सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृतिक जीवन शैली रूपी पेट्रोल के स्थान पर दुर्गुणों और अप्राकृतिक जीवन जी-कर कैसे स्वस्थ रहा जा सकता है? चिन्तन का प्रश्न है।

शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता होती है :-

प्रत्येक अच्छे स्वचालित यंत्र में खतरा उपस्थित होने पर स्वत: उसको ठीक करने की व्यवस्था प्राय: होती है। जैसे बिजली के उपकरणों के साथ ओवरलोड़, शार्ट सर्किट, अर्थ फाल्ट आदि से सुरक्षा हेतु फ्यूज, रीलें आदि। प्रत्येक वाहन में ब्रेक होता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वाहन की गति को नियंत्रित किया जा सके। ठीक उसी प्रकार मनुष्य शरीर में दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ स्वचालित, स्वनियंत्रित मशीन में रोगों से बचने की सुरक्षात्मक व्यवस्था न हो तथा रोग होने की अवस्था में पुन: स्वस्थ बनाने की व्यवस्था न हो कैसे सम्भव हो सकता है? आवश्यकता है, हमें क्षमताओं को जानने की, समझने की तथा स्वविवेक, धैर्य सहनशीलता एवं सद्बुद्धि द्वारा उसका सही उपयोग करने

की। हम जानते हैं कि स्वचलित उपकरणों में जितनी ज्यादा अनावश्यक छेड़छाड़ की जाती है उतनी उसके खराब होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

हम देखते हैं जब किसी व्यक्ति की हड्डी अपना स्थान छोड़ देती है, तो डॉक्टर उसको ठीक स्थान पर पुनः स्थित कर छोड़ देता है। जोड़ने का कार्य तो शरीर स्वयं ही करता है। शरीर अपने लिए आवश्यक रक्त का निर्माण स्वयं करता है। आज तक अति आधुनिक प्रयोगशालाओं में भी शरीर के आवश्यक तत्त्वों का निर्माण सम्भव नहीं हो सका। माँ के गर्भ में जब बच्चे का विकास होता है तो पूरे शरीर का निर्माण स्वयं शरीर के द्वारा होता है। ये सभी तथ्य हमें सोचने अथवा चिन्तन करने के लिए प्रेरित करते हैं कि शरीर में स्वयं को स्वस्थ रखने की क्षमता अवश्य होनी चाहिए।

शरीर में स्वयं स्वस्थ होने की क्षमता होती है :-

दुनियाँ में असंख्य जाति के जीव हैं। चेतनाशील प्राणियों में मानव का प्रतिशत तो 0.1 प्रतिशत से भी कम है। 99.9 प्रतिशत जीव अपना सहज जीवन जीते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार की चिकित्सा पद्धति का न तो कोई ज्ञान होता है और न उन्हें अनुभवी चिकित्सकों का परामर्श अथवा सान्निध्य ही मिलता है। सम्पूर्ण मानव जाति तक भी आज की चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध नहीं है। फिर भी अनादिकाल से जीवन अबाध गति से चल रहा है। कभी-कभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारणों से उपचार न करवा सकने के बावजूद कुछ समय पश्चात् रोग स्वतः ठीक हो जाता है। इसके विपरीत बहुत से रोगी अनुभवी चिकित्सकों से उपचार करवाने के बावजूद रोग-मुक्त नहीं होते। यंत्र और रासायनिक परीक्षण रोग के कारणों का सही निदान नहीं कर सकते। क्योंकि उनके पास अभी तक तनाव, चिन्ता, दुःख, दर्द, पीड़ा, वेदना, संवेदना, आवेग आदि मानसिक रोगों को मापने का साधन नहीं है और वे ही रोग के मूल कारण होते हैं। सजग व्यक्तियों को अपने रोग के ाकरणों की जितनी सूक्ष्मतम जानकारी होती हैं उतनी किसी भी चिकित्सक को नहीं हो सकती। शरीर मे हजारों रोग होते हैं, जिन्हें रोगी अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जितने रोगों को अभिव्यक्त कर सकता है, वे सभी यंत्रों और रासायनिक परीक्षणों की पकड़ में नहीं आ सकते। जो उनकी पकड़ में आ जाते हैं, उनको सभी डॉक्टर समझ नहीं सकते। सभी अपना अलग-अलग निष्कर्ष निकाल निदान करते हैं। अतः दवाओं द्वारा उपचार आंशिक ही होता है। इसी कारण बहुत से व्यक्ति उपचार करवाने के बावजूद पुनः स्वस्थ नहीं होते, जबकि चन्द रोगी बिना उपचार करवाए, प्राकृतिक नियमों को पालन कर स्वतः स्वस्थ हो जाते हैं। शरीर में रोग के अनुकूल दवा बनाने की क्षमता होती है और यदि उन क्षमताओं को बिना किसी बाह्य दवा के विकसीत कर दिया जाए तो उपचार अधिक प्रभावशाली, स्थायी एवं भविष्य में पड़ने वाले दुष्प्रभावों से रहित होता है। दवा और चिकित्सक तो मात्र मार्गदर्शक अथवा सहायक की भूमिका निभा सकते हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए स्वयं की सजगता, भागीदारी, जीवन चर्या एवं गतिविधियों पर पूर्ण संयम, अनुशासन और नियंत्रण आवश्यक है। अच्छे से अच्छा अनुभवी चिकित्सक और दवा उसके बिना रोगी को ठीक नहीं रख सकते। पीड़ा में राहत मिलना मात्र रोग का सम्पूर्ण उपचार नहीं होता। स्वास्थ्य के प्रति अन्तर सजगता व्यक्ति की पहली चिकित्सा है।

क्या मानव कभी चिन्तन करता है कि मनुष्य के अलावा अन्य चेतनाशील प्राणी अपने आपको कैसे स्वस्थ रखते है ? क्या स्वस्थ रहने का ठेका दवा और डॉक्टरों के सम्पर्क में रहने वालों ने ही ले रखा है ? चिकित्सा विज्ञान में इतने विकास के बावजूद रोग और रोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि क्यों हो रही है ? वास्तव में इस बात पर विश्वास करना होगा कि शरीर ही अपने आपको स्वस्थ रख सकता है। अच्छी से अच्छी दवा और चिकित्सक तो शरीर को

अपना कार्य स्वयं करने में सहयोग मात्र देते हैं। जिसका शरीर सहयोग करेगा, वही स्वस्थ होगा। यही सोच, स्वास्थ्य प्राप्त करने का मूलाधार है।

पूर्ण शरीर को एक इकाई मानना आवश्यक :-

आज हमने उपचार हेतु शरीर को कई टुकड़ों में बांट दिया हैं। जैसे एक अंग का दूसरे अंग से सम्बन्ध ही न हो। आँख का डॉक्टर अलग, कान, नाक, दांत, हृदय, फेफड़ा, गुर्दा, मस्तिष्क आदि सभी के विशेषज्ञ डॉक्टर अलग-अलग होते हैं। उपचार करते समय जब तक पूर्ण शरीर मन व आत्मा को एक इकाई के रूप में स्वीकार न किया जाएगा तब तक स्थायी प्रभावशाली उपचार एक कल्पना मात्र होगी। आँखों का डॉक्टर भौतिक आँखों एवं कान का डॉक्टर भौतिक कान तक सीमित रह उस पर गहनतम शोध में व्यस्त हैं। उसकी चेतना के मूल स्रोत पर उसका नियंत्रण नहीं है। चींटी ओर कुत्ते की घ्राणेन्द्रिय (सूंघने की शक्ति) इतनी तीक्ष्ण क्यों होती है? गिद्ध की दृष्टि जैसी प्रत्येक मानव की दृष्टि क्यों नही होती? कोयल जैसी मधुरता प्रत्येक व्यक्ति की वाणी में क्यों नहीं विकसित होती? जब आँख बैठे-बैठे अप्रत्यक्ष दृश्यों का स्मरण होते ही पूर्व में देखे गए दृश्यों को बन्द आँखों से देख सकती है, तो क्या उन दृश्यों से पड़ने वाले अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव आँखों से देख सकती है, तो क्या उन दृश्यों से पड़ने वाले अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव आँखों को प्रभावित नहीं करेंगे? आँख, कान अथवा शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग अथवा इन्द्रियाँ मात्र भौतिक उपकरण या पदार्थ ही नहीं है, परन्तु उसके साथ जीवन्त चेतना, संवेदनाएँ, और मन की स्मृति, कल्पनाएँ, अनुभूति आदि भी जुड़े हैं, उसके ज्ञान के बिना आँख और कान जैसे शरीर के किसी भी भाग की सूक्ष्मतम जानकारी अधूरी ही होती है।

शारीरिक रोगों का कारण एवं उपचार का माध्यम

रोग क्या है?

उपचार से पूर्व यह जानना और समझना आवश्यक है कि रोग क्या है? रोग क्यों, कब और कैसे होता है? उसके प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष कारण क्या हैं? शरीर की रोग प्रतिकारात्मक शक्ति कैसे बढ़ती है? और क्यों कम होती है? उसके सहायक और विराधी तत्त्व क्या हैं? क्या शारीरिक रोगों का मन, विचार, भाव, वाणी अथवा आत्मा से प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्ध है? क्या उपचार करते समय उनसे संबंधित कारणों को प्राथमिकता दी जाती है? तथा उन कारणों की उपेक्षा तो नहीं होती अथवा उपचार मन और आत्मा के विकारों को बढ़ाने वाला तो नहीं हैं? अर्थात् उपचार हेतु उपयोग में लिए जाने वाले साधन, सामग्री कितने पवित्र हैं? रोगी का आचरण और जीवन-चर्या प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों और नियमों के प्रतिकूल तो नहीं हैं?

रोग का मतलब शरीर में विकारों, दोषों, विजातीय अथवा अनुपयोगी तत्त्वों का जमा होकर, शरीर के विभिन्न तन्त्रों के स्वचालित, स्वनियंत्रित कार्यो में अवरोध अथवा असन्तुलन उत्पन्न करना है। वास्तव में प्राकृतिक सनातन नियमों का जाने-अनजाने वर्तमान अथवा भूतकाल में उल्लंघन करना अर्थात् असंयमित, अनियंत्रित, अविवेकपूर्ण स्वछन्द आचरण के द्वारा जो शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक क्षमताओं का अपव्यय, दुरुपयोग करने से, जो विकार उत्पन्न हो, असंतुलन की जो स्थिति बनती है, वही रोग है। ऐसी परिस्थिति में शरीर एवं मन की सभी क्रियाएँ, अंग, उपांग, इन्द्रियां, तंत्र, अवयव आदि अपना-अपना कार्य स्वतंत्रता पूर्वक सामान्य रूप से नहीं कर पाते। फलतः शरीर, मन और आत्मा के अवांछित, विजातीय, अनुपयोगी विकारों का विसर्जन बराबर नहीं होता। उनमें अवरोध उत्पन्न होने से पीड़ा, दर्द, वेदना, जलन, सूजन, विघटन, चेतना की शून्यता, तनाव, बैचेनी, भय, चिन्ता,

अधीरता, असजगता, गलत दृष्टिकोण व चिन्तन, जीवन के प्रति निराशा आदि के जो लक्षण प्रकट होते हैं, वही मिलकर एक रोग कहलाते हैं।

रोगों के प्रकार–

रोगों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– (1) उत्तेजक, (2) शान्त।

उत्तेजक रोग–

ऐसे रोग जिनकी तरफ हमारा ध्यान शीघ्र जाता है। वे हमारी सहनशीलता को प्रभावित करते है और वाणी द्वारा उससे पड़ने वाले प्रभावों की अभिव्यक्ति पहले होती है। जैसे दर्द, चक्कर, बैचेनी, उल्टी, दस्त, पसीना आदि। ऐसे रोगों का प्रायः समय पर उपचार हो जाता है, अतः अपेक्षाकृत कम हानिकारक होते हैं।

शान्त रोग–

ऐसे रोग जिसकी तरफ रोगी का ध्यान तुरन्त नहीं जाता और न रोगी के लिए असहनीय ही होता है। जिनका सम्बन्ध प्रायः शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षमताओं के अभाव से होता है। जैसे आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का पूर्ण विकसित न होना, शारीरिक अवयवों के अनुपात में असन्तुलन अथवा उनमें रासायनिक परिवर्तनों से विकारों का उत्पन्न होना इत्यादि। ऐसे रोगों की उपेक्षा के कारण ही भविष्य में असाध्य रोगों के होने की सम्भावना होती है, अतः ये ज्यादा खतरनाक होते हैं। अधिकांश आत्मिक और मानसिक विकारों से सम्बन्धित होने वाले रोग तथा शरीर में अभिव्यक्त न होने वाले अप्रत्यक्ष अथवा सहयोगी रोग इसी श्रेणी में आते हैं, जिन्हें हम रोग के रूप में स्वीकार नहीं करते।

विकार रोग का सूचक है–

स्वास्थ्य का अर्थ है– विकार मुक्त अवस्था। रोग का तात्पर्य विकारयुक्त अवस्था यानी ''जितने ज्यादा विकार उतने ज्यादा रोग।'' जितने विकार कम उतना ही स्वास्थ्य अच्छा। विकार का मतलब अनुपयोगी, अनावश्यक, व्यर्थ विजातीय तत्त्व हैं। जब ये विकार शरीर में होते हैं तो शरीर रोगी बन जाता है। परन्तु जब ये विकार मन, भावों और आत्मा में होते हैं तो क्रमशः मन, भाव और आत्मा विकारी अथवा अस्वस्थ कहलाती है। विकारी अवस्था का मतलब है विभाव दशा अथवा विपरीत स्थिति। जितने-जितने विकार उतनी-उतनी विभाव दशा।

शारीरिक विकार के प्रभाव से शरीर के अंग, उपांग, अवयव, ग्रन्थियाँ, मस्तिष्क, इन्द्रियाँ आदि अपने निर्धारित कार्य करने हेतु असजग, असन्तुलित अथवा निष्क्रिय होने लगती हैं जिससे शरीर में अनुपयोगी, अनावश्यक, विजातीय तत्त्व जमा होने लगते हैं। परिणामस्वरूप शरीर की स्वचालित, स्वनियंत्रित प्रक्रिया में अवरोध और असन्तुलन होने लगता है। जो जनसाधारण की भाषा में रोग कहलाता है। फलतः शरीर में दर्द, पीड़ा, बेचैनी, तनाव, चिड़चिड़ापन, भय, अधीरता, निष्क्रियता, कमजोरी, दुर्बलता, चेतना की शून्यता आदि के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

मानसिक विकारों के परिणामस्वरूप मन स्वछन्द और अनियंत्रित होने लगता है। चिन्तन और मनन गलत दिशा में होने लगता है। क्योंकि व्यक्ति अपने मनोबल एवं मानसिक क्षमताओं का अवमूल्यन करने लगता है। उसकी प्राथमिकताएँ समस्याओं के स्थायी व प्रभावशाली समाधानों पर न होकर तत्कालीन अनुकूलताओं पर आधारित होने लगती है।

विभाव अवस्था रोग है-

जैसा की पूर्व में बतलाया गया है कि ''स्वास्थ्य का मतलब है स्व में स्थित हो जाना अर्थात् अपने निज स्वरूप में आ जाना विभाव अवस्था से निज स्वभाव में आ जाना। जैसे अग्नि के सम्पर्क से पानी उबलने लगता हैं परन्तु जैसे ही पानी को अग्नि से अलग करते हैं, धीरे-धीरे वह स्वतः ही ठंडा हो जाता है। शीतलता पानी का स्वभाव है, गर्मी नहीं। पानी को वातावरण के अनुरूप रखने के लिए किसी बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार शरीर में हड्डियों का स्वभाव कठोरता है, परन्तु किसी कारणवश कोई हड्डी नरम हो जाए उसमें लचीलापन आ जाए तो रोग का कारण बन जाती है। मांस-पेशियों का स्वभाव लचीलापन है परन्तु उसमें किसी कारणवश कठोरता आ जाए, गांठ हो जाए अथवा विजातीय तत्त्वों के जमाव के कारण अथवा आवश्यक रसायनों के अभाव के कारण यदि शरीर के किसी भाग की मांसपेशियों में लचीलापन समाप्त हो जाए अथवा क्षमतानुसार न हो तो रोग का कारण बन जाती है। शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारेनहाइट रहना चाहिए, परन्तु किसी कारणवश कम या ज्यादा जो जाए तो शरीर में रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रक्त सारे शरीर में आवश्यकतानुसार ऊर्जा पहुँचाने का कार्य अबाध गति से करता है। अतः उसके सन्तुलित प्रवाह हेतु आवश्यक गर्मी एवं निश्चित दबाव आवश्यक होता है, परन्तु यदि हमारी अप्राकृतिक जीवन शैली से रक्त का बराबर निर्माण न हो अथवा दबाव आवश्यकता से कम या ज्यादा हो जाए तो सारे शरीर में प्राण ऊर्जा का वितरण प्रभावित हो जाता है। रक्त नलिकाओं के फैलनें अथवा सिकुड़ने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है अर्थात् अपना स्वरूप बदल देती है अतः रोग की स्थिति पैदा हो जाती है।

इसी प्रकार प्रत्येक जाति के जीवों में शरीर के सभी अंगों एवं उपांगों का आकार निश्चित होता है परन्तु वैसा न हो। विकास जिस अनुपात अथवा अवस्था में होना चाहिए उस अनुपात और अवस्था में न हो। जैसे शरीर बेढंगा हो, शरीर में विकलांगता हो, बौनापन हो, गंजापन हो आदि विकृतियाँ हों, आँखों में अन्धता अथवा दृष्टि कमजोर हो, कान से कम सुनाई देता हो, मुंह से वाणी का उच्चारण बराबर न हो। वाणी सम्बन्धी दोष हो आदि सारी शरीर की विभाव दशाएँ है। अतः ये रोग की प्रतीक हैं। वृद्धावस्था के पूर्व ही बाल सफेद हो जाएँ, दाँत गिर जाएँ, त्वचा पर झुर्रिया पड़ जाएँ, इन्द्रिया, मन, अंग, उपांग अशक्त हो जाएँ, बालक में चंचलता न हो, युवावस्था में जोश न हो, उत्साह न हो, बचपन में भी स्मरण शक्ति अच्छी न हो आदि सभी कारण शरीर की विभाव दशा होने के परिणामस्वरूप रोग के कारक बनते हैं।

शरीर का गुण है जो अंग और उपांग शरीर के जिस स्थान पर स्थित हैं, उनको वहीं स्थित रखना यथा हलन-चलन के बावजूद आगे-पीछे न होने देना, शरीर में विकार उत्पन्न होने पर उसको दूर करना और पुनः अच्छा करना। अनावश्यक, अनुपयोगी, विजातीय तत्त्वों का विसर्जन करना। यदि कोई हड्डी टूट जाए तो उसे पुनः जोड़ना। चोट लग जाने से यदि घाव हो जाए तो उसको भरना तथा पुनः त्वचा का आवरण लगाना। रक्त बहने अथवा रक्त दान आदि से शरीर में जो रक्त की कमी हो गई हो तो उसकी पूर्ति करना। उपर्युक्त एवं ऐसे अनेक कार्य शरीर के गुण एवं स्वभाव हैं परन्तु यदि किसी कारणवश शरीर इन कार्यों को बराबर न करे तो यह उसकी विभाव दशा है अर्थात् रोगों का प्रतीक हैं।

शरीर विभिन्न तंत्रों का समूह है। जैसे ज्ञान तंत्र, नाड़ी तंत्र, श्वसन, अस्थि, मज्जा, लसिका, प्रजनन, विसर्जन आदि। शरीर में पीयूष, पिनियल, थायरॉइड और पैराथायरॉइड, एड्रीनल, पेन्क्रियाज थाइमस, प्रजनन आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ प्रशासक के रूप में कार्य करती है। सभी आपसी सहयोग, समन्वय, तालमेल, अनुशासन से अपना कार्य स्वयं ही करते हैं, क्योंकि ये चेतनाशील मानव के लक्षण और स्वभाव हैं। परन्तु यदि किसी कारणवश कोई भी तंत्र शिथिल अथवा निष्क्रिय हो जाता है, कार्यो को संचालित और नियंत्रित करने के लिए बाह्य सहयोग या आलम्बन लेना पड़े तो यह शरीर की विभाव दशा है, अतः ये रोग का सूचक है।

आत्मा की विभाव दशा रोग का सूचकः-

अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह, आत्मा की विभावदशा है। जो कर्मों के आवरण से स्वविवेक और अपना भान नहीं होने देती। अतः ये आत्मा के रोग हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, वीतरागता शुद्धात्मा के लक्षण हैं। यही अवस्था हैं। यही अवस्था निरोगी आत्मा की प्रतीक होती है। जैसे कोई व्यक्ति केवल झूठ बोलकर ही अपना कार्य चलाना चाहे, सत्य बोले ही नहीं तो क्या दीर्घकाल तक अपना जीवन सुचारू रूप से चला सकता है? कदापि नहीं। जीवन चलाने के लिए तो उसे सत्य बोलना ही पड़ेगा, क्योंकि झूठ बोलना उसका स्वभाव नहीं है। व्यक्ति छोटा हो अथवा बड़ा, अपने स्वभाव में बिना किसी परेशानी, प्रायः सदैव रह सकता है। बाह्य आलम्बनों का जितना-जितना सहयोग लेगा, वह उसकी विभावदशा अथवा रोग की दशा होगी। जितना-जितना अपने स्वभाव को विकसित करेगा, व्यक्ति स्वास्थ्य के समीप होता जाएगा। अपने आपको स्वस्थ और निरोग रखने की भावना रखने वालों को इस तथ्य, सत्य का चिन्तन कर अपने लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

रोग हमारा मित्र अथवा शत्रु :-

जिन शारीरिक अथवा मानसिक रोगों का उपचार सम्भव होता है, प्रायः उनमें अधिकांश रोगों का कारण हम स्वयं ही होते हैं। रोग के सम्बन्ध में हमारी गलत धारणाएँ हैं। दर्द अथवा रोग के अन्य लक्षण हमें सजग करते हैं। अपने कर्त्तव्य बोध हेतु चिन्तन करने की प्रेरणा देते हैं। हमें चेतावनी देते हैं, कि हम अपने आपका निरीक्षण कर, अपने आपको बदलें ताकि पीड़ा मुक्त, तनाव मुक्त जीवन जी सकें। हम स्पप्न में जी रहे हैं यानी बेहोशी में हैं। दर्द अथवा रोग के अन्य संकेत उस बेहोशी को भंग कर हमें सावधान करते हैं परन्तु सही दृष्टि न होने से हमने, उनको शत्रु मान लिया है। रोगी शरीर की आवाज सुनना और भाषा को समझना नहीं चाहता। उपचार स्वयं के पास है और खोजता है बाजार में डॉक्टर और दवाइयों के द्वारा। फलतः दवा द्वारा रोग के कारणों को दबा कर खुश होने का असफल प्रयास करता है। रोगी जितना डॉक्टर, दवा अथवा अन्य शुभचिन्तको, अधूरे ज्ञान वाले सलाहकारों पर विश्वास करता है, उतना अपने आप पर एवं अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं करता। यही तो सबसे बड़ी मिथ्यात्व है। जब रोग का कारण स्वयं है तो उपचार भी स्वयं के पास अवश्य होना चाहिए। शरीर की स्वचालित प्रणाली आँते, गुर्दे, फेफड़े और त्वचा शरीर के किसी भी भाग में एकत्र हुए अनुपयोगी, विजातीय अथवा अवांछित तत्त्वों को किसी न किसी प्रकार का सफाई अभियान चलाकर, उसे जुखाम, बुखार, फोड़े-फुन्सी, मल-मूत्र अथवा पसीने आदि के रूप में शरीर से बाहर फेंक कर शरीर की विभिन्न कार्य प्रणालीयों के कार्य को सामान्य रूप में लाने का प्रयास करती है। प्रकृति रोग के द्वारा यह दर्शाती है कि हम गलती कर रहे हैं। प्रारम्भिक अवस्था में प्रकट होने वाले रोग के लक्षण हमारे मित्र है। हमें हमारी असजगता के कारण भविष्य में होने वाले दुष्परिणामों की चेतावनी देकर सचेत करते है। यह तो हमारे शारीरिक प्रक्रिया का एक उपकारी एवं हितैषी कार्य है जिसमें हमें सहयोग करना चाहिए। यह कोई शत्रुता पूर्ण कार्य नहीं जिसे रोका जाए, विरोध किया जाए अथवा जिसे नष्ट किया जाए परन्तु अज्ञानवश आज हम इन संकेतों को दुश्मन मान दवाइयों द्वारा उनको दबा कर अपने आपको बुद्धिमान समझने की भूल कर रहे हैं। कचरे को दबाकर अथवा छिपाकर रखने से उसमें अधिक सड़ांध, बदबू अथवा अवरोध की समस्या पैदा होगी। दीमक लगी लकड़ी पर रंग रोगन करने से बाहरी चमक भले ही आ जावे, परन्तु मजबूती नहीं आ सकती। औषधियों के माध्यम से इस सफाई अभियान को रोकने से तो विषैले अथवा दूषित तत्त्वों के शरीर के अन्दर रुके रहने से धीरे-धीरे शरीर की कार्यप्रणाली में अवरोध बढ़ता जाएगा। जो भविष्य में विभिन्न गम्भीर रोगों को जन्म देने का कारण बनते हैं।

रोग असजगता की चेतावनी :-

रोग प्रकृति द्वारा हमारी गलतियों को दर्शाता है। कारण दूर किए बिना लक्षणों को दबाने से राहत भले ही मिल जाए, पूर्ण उपचार कदापि नहीं हो सकता। अतः वास्तव में रोग तो एक उपहार है, क्योंकि इसका उद्देश्य परोपकारी व रक्षाकारी है। शरीर में अवांछित तत्त्वों का जमाव व उसके निष्कासन में निष्क्रियता ही रोगों का मूल कारण है।

आधुनिक चिकित्सा प्रायः रोग के मूल कारणों का पता न लगाकर रोग के लक्षणों का उपचार कर मात्र तुरन्त राहत दिलाने का प्रयास करते हैं। दवाओं द्वारा लक्षणों को दबा देते हैं। जिससे एक तरफ तो रोग के कारण बने रहते हैं, दूसरी तरफ दवाएँ प्रायः शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमताओं को क्षीण कर देती है, परिणामस्वरूप भविष्य में नित्य नवीन रोगों के पनपने की सम्भावना बनी रहती है। उनका प्रयास वृक्ष को सुरक्षित रखने के लिए, जड़ को सींचने के बजाय पत्तों को पानी पिलाने के समान अदूरदर्शिता पूर्ण होता है।

रोग के कारण :-

रोगों के मुख्यतया दो कारण होते हैं।

(1) बाह्य (Objective) अर्थात शारीरिक धर्म अथवा स्वास्थ्य के सिद्धान्तों के विरूद्ध आचरण करना।

(2) आन्तरिक (Subjective) अर्थात् स्वयं की अनिष्टकारी मनोवृत्तियों का अनुचित प्रयोग तथा अहितकर चिन्ता, भय, तनाव, दुःख आदि।

प्रायः अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों में रोग से सम्बन्धित मानसिक कारणों को दूर करने की कोई दवा अथवा इंजेक्शन अभी तक नहीं बन पाया है और न उपचार करते समय ऐसे कारणों को दूर कर मानसिक विकारों से मुक्त होने को प्राथमिकता ही दी जाती है। प्रत्येक रोग का उपचार हो सकता है, परन्तु सभी रोगों का प्रायः एक-सा उपचार नहीं होता। अंग्रेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है, "All Diseases can be cured but not all patients, because they are having very much Impatience".

अज्ञान सभी दुःखों का मूल हैं :-

इस दुनिया में इतने कष्ट नहीं जितने आदमी भोगता है। वह भोगता है तो उसका कारण है- उसका अज्ञान। ज्ञान है तो बहुत से समाधान हैं। स्वास्थ्य के लिए हमारे शरीर में समाधान है, प्रकृति में समाधान है, वातावरण में समाधान है। भोजन, पानी और हवा के सम्यक् उपयोग और विसर्जन में समाधान है। समाधान भरे पड़े हैं, किन्तु उस व्यक्ति के लिए कोई समाधान नहीं है जिसमें अज्ञान भरा पड़ा है। स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का सही ज्ञान न होना व उनका उल्लंघन करना सभी रोगों का मूल कारण है। प्रकृति किसी भी ज्ञानी या अज्ञानी को नियम विरूद्ध कार्य करने के लिए क्षमा नहीं करती।

विज्ञान का मतलब है विशिष्ट ज्ञान। जो क्रमबद्ध एवं सूत्रबद्ध ढंग से प्राप्त किया जाए अथवा विज्ञान ज्ञान प्राप्त करने की वह विधि है, जिसमें तार्किक विधियों एवं प्रयोगों अथवा चेतना की अनुभूतियों के आधार पर सत्य के निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, परन्तु अल्प ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। अज्ञान से अविश्वास और भ्रान्ति पैदा होती है।

रोग का प्रारम्भ आत्म विकारों से :-

शरीर, मन और आत्मा का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा सभी एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। मन, वचन और काया आत्मा की अभिव्यक्ति के तीन सशक्त माध्यम हैं। मन दूषित होने से वाणी और काया बिगड़ जाती है अर्थात स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। यदि शरीर बिगड़ा हुआ हो तो मनोवृत्तियाँ दूषित हो जाती है। अतः शरीर, मन और वाणी का तालमेल, सन्तुलन ही वास्तविक स्वास्थ्य है।

जैसी शारीरिक अवस्था हो, चाहे पीड़ा, वेदना, दर्द अथवा निष्क्रियता अथवा तनाव, बेचैनी, अधीरता, भय, चिन्ता, दुःख जैसी मानसिक स्थिति या शुभाशुभ भावों का प्रभाव सारे लक्षण और अभिव्यक्ति तो शरीर के माध्यम से ही होती है। अतः प्रायः सभी चिकित्सा पद्धतियों का उपचार करते समय शरीर को ही रोग के लक्षणों से, अपने-अपने सिद्धान्तों एवं विधि के अनुसार मुक्त करने का प्रयत्न होता है। मानसिक रोग एवं भावात्मक आवेग तथा आत्मिक विकार जो ज्यादा खतरनाक होते हैं और रोगों की उत्पत्ति के मूल कारण होते हैं, उनको दूर करने के लिए कोई भी व्यवस्थित चिकित्सा पद्धति नहीं है। कारणों को दूर किए बिना जो भी उपचार होगा, वह अस्थायी होगा तथा उपचार करते समय आत्मिक विकारों को बढ़ाने अथवा प्रोत्साहन देने वाला उपचार दुष्प्रभावों से रहित नहीं हो सकता? मात्र शरीर के रोगों को ही रोग मानना तथा मन, वाणी, दुर्भावनाओं एवं आत्मा के विकारों को रोग में सहयोगी न मानना हमारे अज्ञान और अदूरदर्शिता का प्रतीक है।

रोग क्यों होते हैं? :-

रोग होने के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे पूर्व जन्म के संचित असाता वेदनीय कर्मो का उदय, पैतृक संस्कार अथवा वंशानुगत रोग, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, आसपास का बाह्य प्रदूषित वातावरण, मौसम का परिवर्तन एवं उसके प्रतिकूल आचरण, असंयम, दुर्व्यसनों का सेवन, अकरणीय पाशविक वृत्तियाँ, मिलावट एवं रासायनिक खाद एवं कीटनाशक दवाइयों से उपलब्ध आहार सामग्री, भ्रामक विज्ञापनों पर आधारित जीवन पद्धति, असाध्य अथवा संक्रामक रोगों के प्रति प्रारम्भ में रखी गई उपेक्षावृत्ति, अनावश्यक दवाओं का सेवन तथा शारीरिक परीक्षण, इलैक्ट्रोनिक किरणों (एक्स रे, टी.वी., सोनोग्राफी, कम्प्यूटर, केट स्केनिंग, मोबाइल फोनों एवं अन्य प्रकार की आणविक तरंगों) का दुष्प्रभाव, प्राण ऊर्जा का दुरुपयोग तथा आवश्यकता के अनुरूप आराम, विश्राम, निद्रा का अभाव, शरीर में रोग प्रतिकारात्मक और रोग निरोधक क्षमता का क्षीण होना, दवाओं एवं गलत अथवा अधूरे उपचार का दुष्प्रभाव, वृद्धावस्था, इन्द्रियों और मन का असंयम जो शरीर में विकार पैदा करे, आलस्य, अविवेक, अशुभ चिन्तन, आवेग, तनाव, अज्ञान, जीवन मूल्यों एवं सही लक्ष्य चयन और प्राप्ति हेतु असजगता, ध्यान और स्वाध्याय की उपेक्षा, राग, द्वेष और हिंसा को प्रोत्साहित करने वाली कषाय मूलक प्रवृत्तियाँ आदि की बहुलता रोगों की मुख्य कारण हैं।

जितने ज्यादा उपर्युक्त कारण विद्यमान होंगे, उतने शरीर में विजातीय तत्त्व अधिक बनेंगे तथा पूर्ण रूप से पेशाब, मल, पसीना, नाक, बलगम द्वारा बाहर नहीं निकल पाएँगे और शरीर में एकत्रित होने लगेंगे। जिस भाग में विजातीय तत्त्व एकत्रित होंगे, उस अंग की कार्यप्रणाली खराब हो जाती है और उससे सम्बन्धित रोग हो जाते हैं। रोगों के नाम भले ही भिन्न-भिन्न हों, परन्तु कारण शरीर में विजातीय तत्त्वों का जमाव ही होता है। जितने ज्यादा शरीर में अनावश्यक, अनुपयोगी तत्त्व होंगे उतना ही व्यक्ति अशान्त, परेशान, तनावग्रस्त, दुःखी एवं रोगग्रस्त होगा और जितना-जितना इन कारणों से बचता जाएगा उतना-उतना व्यक्ति स्वस्थ एवं निरोगी होगा।

स्वास्थ्य एवं रोग जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। जीवन में प्रतिक्षण निर्माण और क्षय का क्रम चलताहै। जब तक दोनों में सन्तुलन रहता है, तब तक हम स्वस्थ रहते हैं परन्तु जब कोशिकाओं के निर्माण की प्रक्रिया उनके क्षय होने से धीमी हो जाती है तो शरीर में कमजोरी एवं रोग उत्पन्न होने की स्थिति बनती है। पहले रोग की प्रतिकारात्मक क्षमता घटने लगती है और बाद में रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इन कारणों के परिणामस्वरूप शरीर में चेतना का असन्तुलन हो जाता है। कहीं सक्रियता आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो कुछ भाग चेतना की असक्रियता के कारण आंशिक अथवा पूर्णरूपेण निष्क्रिय होकर अपना कार्य बराबर नहीं करते तथा व्यक्ति रोगी हो जाता है। यदि किसी भी विधि द्वारा इस असंतुलित चेतना को पुनः संतुलित कर दिया जाए तो सारे शरीर में चेतना का प्रवाह सन्तुलित होने लगता है और व्यक्ति रोगमुक्त होने लगता है।

आज चन्द मानव भौतिक सुखों की तलाश में दुर्व्यसनों को जानते हुए भी निःसकोंच सेवन करते हैं। पानी की भाँति शराब अथवा अपेय का सेवन करते हैं। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, अफीम, हुक्का, गुटका, हेरोइन, स्मैक आदि हानिकारक दुर्व्यसनों का सेवन करते हैं। अपनी कामेच्छा से खुला-खेल अमूल्य वीर्य शक्ति का नाश करते हैं। उपचार द्वारा अपने आपको स्वस्थ रखने की कामना रखने वाले ऐसे मानव को स्वयं के प्रति भी सजग एवं सतर्क कैसे माना जाए? ये सभी प्रवृत्तियाँ तो रोग पैदा करने और उन्हें बढ़ाने वाली हैं अतः ये रोग की कारण हैं।

आत्मिक ऊर्जा की उपेक्षा अनुचित्त :-

स्वास्थ्य के प्रति हमारा अज्ञान अथवा अधूरा ज्ञान रोगों का मूल कारण है। रोग की चार अवस्थाएँ हैं। शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आत्मिक। जिस अवस्था का रोग हो, जब तक उसके अनुरूप उपचार नहीं किया जाएगा तब तक रोग से मुक्ति सम्भव नहीं। आज प्रायः मानसिक और आत्मिक रोगों को तो हम रोग मानते ही नहीं, क्योंकि मन और आत्मा की शक्ति का हमें न तो सम्पूर्ण ज्ञान ही है और न हम उसको जानने एवं समझने का अपेक्षित प्रयास ही करते हैं। इसके विपरीत आत्मबल और मनोबल की क्षमताओं से अपरिचित होने के कारण उसका अवमूल्यन कर दुरुपयोग करते संकोच नहीं करते। शरीर से मन और मन से भावना की शक्ति बहुत ज्यादा है और भावना से आत्मा की शक्ति अनन्त गुणा ज्यादा होती है, जब ऐसे व्यक्ति जिन्हें चलने-फिरने में भी अत्यधिक कष्ट होता है, परन्तु सामने मृत्यु का प्रसंग या भय जैसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर दौड़ने लग जाते हैं। शारीरिक वेदना से तड़पने वाले मृत्यु की शय्या पर अन्तिम श्वास गिनने वालों के सामने, जब लम्बे समय पश्चात् उनका कोई स्नेही परिजन मिलता है, तो क्षण मात्र के लिए सारे दुःख-दर्द कैसे भूल जाते हैं? खुशी के प्रसंगों पर रोगों को क्यों भूल जाते हैं? आत्म साधक सभी भौतिक सुख-सुविधाओं को त्यागने वाले आत्म बली, आध्यात्म योगी, सन्त, मुनिजन इतने तनावमुक्त, प्रसन्नचित्त, शान्त, निर्भय, सुखी, सन्तोषी कैसे रहते हैं?

उचित प्राथमिकताओं का चयन आवश्यक-

हमारे चिन्तन का केन्द्रबिन्द्र है- भावना का परिष्कार। आज की सबसग बड़ी समस्या है भावनाओं का असंतुलन या आवेग। इसी कारण सारे मनोविकार पैदा होते हैं। मन भी तन के सृजन में सहयोगी है। इन्द्रियों और मस्तिष्क के कार्यों के संचालन में उसकी अहम भूमिका होती है। सारे विचारों, चिन्तन, मनन, सोच, इच्छाओं कल्पनाओं, कामनाओं, स्मृतियों की प्रवृत्तियों के संचालन में मन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः मनोविकारों से बचना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। मन स्वछन्द और अनियन्त्रित होता है। परिणाम स्वरूप जो मन चाहता है, जो मन को अच्छा अथवा अनुकूल लगता है, प्रायः हम अपनी जीवन चर्या में ऐसी बातों को प्राथमिकता देते हैं, भले ही वे हमारे शरीर के लिए अनुपयोगी अथवा हानिकारक ही क्यों न हो। हम स्वाद के वशीभूत हो ऐसी चीजें खाते संकोच

नहीं करते जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। आंखों से ऐसे दृश्य देखते है जो विकार पैदा करते हैं अथवा जिन्हें नहीं देखना चाहिए। हमारी प्राथमिकताएँ, आवश्यकताओं के अनुरूप हो न कि इच्छाओं के अनुरूप।

स्वास्थ्य का अस्तित्व जब तक शरीर में आत्मा होती है, तभी तक होता है। आत्मा ही अपनी चैतन्य ऊर्जा द्वारा शरीर,मन और भावों का सृजन करती है। अतः स्वस्थता का मतलब है आत्मा की शुद्धता, पवित्रता। अतः उपचार आत्मा को अपवित्र बनाने वाला कदापि नहीं होना चाहिए। यही हमारी सर्वोच्य प्राथमिकता होनी चाहिए। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आत्मा की उपेक्षा अथवा उसको विकारी बनाना हमारे गलत सोच का प्रतीक होती है। आभूषण की शोभा शरीर पर कपड़े पहनने के बाद धारण करने से होती है। जिस प्रकार कपड़ों बिना आभूषण पहनने वाला पागल ही होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा को विकारी बना शारीरिक स्वस्थता को प्राथमिकता कैसे बुद्धिमता हो सकती है ?

चिकित्सा हेतु अमानवीय आचरण अनुचित :-

अमानवीय कार्यो से आत्माा दूषित होती है। विशेषकर हिंसक आचरण से। स्वार्थवश अपनी श्रेष्ठता, उच्चता, सबलता का लाभ उठा, अन्य प्राणियों के साथ हिंसा, क्रूरता, निर्दयता का आचरण करने का हमें अधिकार नहीं है। अतः आत्मिक पवित्रता के लिए ऐसे कृत्यों को प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष करने, करवाने और अनुमोदन करने से अपने मन, वचन और काया को अलग रखना सर्वाधिक आवश्यक है। प्रकृति का अटल नियम है कि ''दुःख देने से दुःख मिलता है।'' और ''सुख देने से सुख मिलता है।'' अतः प्राणिमात्र के प्रति हमें दया, करूणा, संवेदना, मैत्री का भाव विकसित करना चाहिए। अपनी शांति, सुख और स्वास्थ्य के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा, क्रूरता, कष्ट, दुःख, तनाव आदि पैदा करने वाले कारणों में प्रत्यक्ष परोक्ष सहयोगी बन हम लाख प्रयास करने के बावजूद अपने आपको स्थायी रूप से स्वस्थ नहीं रख सकते। जब तक रोग अथवा दुःख के कारणों को दूर नहीं किया जा जाएगा तथा अपने द्वारा किए गए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष, जाने-अनजाने, वर्तमान अथवा भूत के अपराधों का परिणाम नहीं भोगेगा, तब तक दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। रोग दुःख की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है। शारीरिक पीड़ा देने वालों को शारीरिक कष्ट अथवा रोग के रूप में ही अपने कर्मों का भुगतान करना पड़ता है। दुर्भाग्य तो इस बात का है कि प्रायः अधिकांश चिकित्सा पद्धतियाँ उपचार में आत्मा के विकारों की न केवल उपेक्षा करती है, परन्तु कभी-कभी तो शरीर को स्वस्थ बनाने हेतु उन विकारों को बढ़ाते हुए भी संकोच नहीं करती। अतः सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए अहिंसक आचरण अनिवार्य हैं। उपचार हेतु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिंसा को प्रोत्साहन कदापि उचित नहीं हो सकता ?

रोग प्रतिकारात्मक शक्ति का क्षय क्यो ?

शरीर के रचनाकार द्वारा निर्मित शरीर की स्वःस्वास्थीकरण (Self Healing), स्वःचालित (Self Operating) स्वःव्यवस्थित (Setl Adjusting), स्वः सुधारक (Self Repairing) रक्षा प्रणाली शरीर के किसी भी भाग में एकत्रित हुए विषैले, रोग उत्पन्न करने वाले, विजातीय तत्त्वों का प्रतिरोध करती है। हमारे अनुचित खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, अथवा अप्राकृतिक जीवनशैली से यदि उस शक्ति को अधिक कार्य करना पड़े तो उसकी कार्य क्षमता जल्दी क्षीण हो जाती है और शरीर में रोगग्रस्त होने की संभावना बढ़ जाती है। शरीर की इस सुरक्षा व्यवस्था (Defence Power) को क्षीण होने से रोकना ही रोगों को रोकना है। संयमित, नियमित, परिमित, स्व अनुशासित एवं स्वनियंत्रित, स्वावलम्बी और सात्विक जीवन शैली ही स्वस्थ जीवन की प्राकृतिक विधि होती है।

वंशानुगत रोगों में माता-पिता की भूमिका :-

कोई भी रोग बाजार में नहीं मिलता। पूर्वार्जित कर्मो, आकस्मिक दुर्घटनाओं अथवा जन्मजात और वंशानुगत रोगों को छोड़ प्रायः अन्य सभी रोगों के लिए बाल्यकाल के पश्चात् रोगी स्वयं ही जिम्मेदार होता है। बाल्यकाल ओर गर्भावस्था में तो जीवन माता के आश्रित होता है। हमारे शरीर के सभी अंगों, उपांगों अन्तःश्रावी ग्रन्थियों, इन्द्रियों आदि का 99% निर्माण तो बीज रूप में गर्भावस्था में ही हो जाता है। जन्म के पश्चात् तो उसमें मात्र विकास अथवा फैलाव ही होता है। अच्छे फल की प्राप्ति के लिए बीज का अच्छा होना अनिवार्य है। अतः बच्चे के स्वास्थ्य हेतु विशेष रूप से माता ही जिम्मेदार होती है। वंशानुगत और जन्मजात रोगों में माता-पिता द्वारा गर्भकाल में रखी गई असावधानियाँ, असंयम, अविवेक एवं उपेक्षावृत्ति ही मूल कारण होते हैं। खेती करने वाला साधारण किसान भी अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए बीज बोने से लेकर फसल प्राप्त होने तक कितनी सजगता, सावधानी और देखरेख करता है, पुरुषार्थ करता है, तो ही उसे अपने परिश्रम का उचित फल मिलता है। तब मनुष्य जैसे व्यक्तित्व के निर्माण के प्रति माता-पिता असजग, बेखबर लापरवाह रहें, अविवेकपूर्ण आचरण करें तो वे अपने कर्त्तव्यों के प्रति ईमानदार नहीं कहे जा सकते? उसका दुष्परिणाम होता है। अशक्त, कमजोर, दुर्बल, रोगग्रस्त, विकलांग सन्तान। माँ के पेट में बच्चा अधिकांशतः सोया रहता है परन्तु माँ के आवेग अथवा अन्य कारणों से यदि वह जागृत हो जाता है तो उस समय होने वाला बच्चे का विकास अपूर्ण होता है। क्रोध की अवस्था में माता-पिता द्वारा कराया गया दुग्धपान विष का कार्य करता है।

अप्राकृतिक जीवन शैली रोग का मूल :-

प्रकृति के साथ असहयोग की सजा रोग है। अतः निरोग रहने के लिए आवश्यक है कि यथासम्भव हम प्राकृतिक नियमों का पालन करें। शरीर को स्वस्थ रहने के लिए यह जानना आवश्यक है कि श्वास कब, कहाँ, कितना और कैसे लें अथवा छोड़े? पानी कब, कितना और कैसे पिएँ? खाना कब, कितना, क्या, कहाँ और कैसे खाएँ? इन नियमों की उपेक्षा कर अपने आपको स्वस्थ रखने की कल्पना, आग लगा कर शीत प्राप्त करने के समान होगी। मन के लंगड़े व्यक्ति को स्वर्ग के हजारों देवता भी अपने पैरों से नहीं चला सकते। ठीक उसी प्रकार अप्राकृतिक जीवन शैली से दीर्घकाल तक स्वस्थ रहना असम्भव होता है। स्वस्थता के लिए आवश्यक है नियमित स्वाध्याय, ध्यान, शुभ भावनाओं का सम्यक् चिन्तन, अनासक्ति एवं निस्पृही जीवनचर्या, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् आचरण में प्रवृत्ति का अभ्यास, संयमित, नियमित, परिमित जीवन शैली, मौसम के अनुकूल, सात्त्विक पौष्टिक खान-पान, शुद्ध प्राणवायु का अधिकाधि सेवन, स्वच्छ हवा एवं धुप वाला आवास एवं क्रिया स्थल, नियमित आसन, प्राणायाम, व्यायाम, निद्रा , उपवास, स्वास्थ्य के अनुकूल दिनचर्या आवश्यक है। अपनी-अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं की प्राथमिकता के आधार पर यदि उपर्युक्त बातों का समायोजन हमारे दैनिक जीवन में करते हैं तो रोग आने की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। साथ ही मानसिक एवं आत्मिक शुद्धि का निरन्तर विकास होने से जीवन में शान्ति, सन्तोष,सहनशीलता, निर्भयता, धैर्य, आनन्द एवं अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंगों पर समभाव के संस्कार अभिव्यक्त होने लगते हैं।

मन का असंयम रोग का जनक :-

मन का कार्य चिन्तन-मनन, संकल्प-विकल्प, इच्छाएँ-कामनाएँ करना, भूत की स्मृति एवं भविष्य की कल्पनाएॅं करना आदि है। इस पर जब ज्ञान और विवेक का अंकुश रहता है तो मन शुभ में प्रवृत्ति करता है। व्यक्ति को

नर से नारायण बना देता है, परन्तु जब वही मन स्वछन्द बन जाता है, तब व्यक्ति को अपने लक्ष्य से विचलित कर देता है। जब चाहा, जैसा चाहा, चिन्तन, मनन, इच्छा, एषणा, आवेग करने लग जाता है, जिसका परिणाम होता है गलत प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, असंयम, कषाय (आत्मा को कलुषित करने वाली प्रवृत्ति) प्रमाद (निरर्थक समय की बरबादी), अशुभ, अनावश्यक, अनुपयोगी कार्यों में मन और काया को लगाए रखना। ये सब प्रवृत्तियाँ आत्मा को विकारी बना देती है। आत्मा से मन, वाणी और शरीर का सृजन होता है। अतः तीनों में विकार उत्पन्न होने से व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है।

आधुनिक जीवनशैली और स्वास्थ्य

विज्ञान से प्रभावित आधुनिक जन-जीवन :-

आज का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। भौतिक जगत में विज्ञान के चमत्कारों ने असम्भव को सम्भव, परोक्ष दिखलाने में काफी सफलताएँ प्राप्त की है। भौतिक सुख-सुविधाओं, आवागमन, संचार माध्यमों के साधनों को सुलभ कराया है। प्रायः जीवन के अधिकांश क्षेत्र उससे प्रभावित हो रहे हैं। इन्टरनेट, कम्प्यूटर, टी.वी. मोबाइल फोन, संचार और आवागमन के साधनों के विकास के कारण संसार में बाह्य दूरियॉ कम होती जा रही है। दैनिक जीवन में उपयोग के लिए बिजली द्वारा संचालित शारीरिक सुविधा प्रदान करने वाले पंखे, कूलर, एयर कंडीशनर, वांशिग मशीन, रेफ्रिजरेटर एवं अन्य घरेलू उपकरण उसके लिए आज्ञाकारी नौकर के समान कार्य कर रहे हैं। उनके अभाव में जीवन अस्त-व्यस्त होने लगता है। बिजली, चुम्बकीय, सौर, पेट्रोल, परमाण्विक, रसायन, हवा, पानी आदि ऊर्जाओं के स्रोतों की खोज से मानव को भौतिक रूप से शक्तिशाली बनाने में विज्ञान की भूमिका से नकारा नहीं जा सकता।

चिकित्सा के क्षेत्र में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ :-

चिकित्सा के क्षेत्र में शल्य चिकित्सा द्वारा हृदय, लीवर, गुर्दो, नेत्र की पुतलियों आदि का प्रत्यारोपण सम्भव हो सका है तथा शरीर के किसी भी भाग में जमा विकृतियों को दूर करने जैसे शारीरिक रोगों में राहत दिलाने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। चश्मों द्वारा आँखों की, श्रवण यंत्रों द्वारा कान की भौतिक क्षमता बढ़ाने में भी आंशिक सफलता मिली है। इंजेक्शन द्वारा शरीर में सीधे आवश्यक अवयव पहुँचाने में, डायलेसिस द्वारा रक्त की सफाई, विकलागों के लिए कृत्रिम हाथ पैर उपलब्ध कराने, एक्स-रे, ई.सी.जी., सी.टी. स्केन, एम.आर.आई., सोनोग्राफी आदि उपकरणों के माध्यम से शरीर की आन्तरिक प्रणाली को देखने और समझने में विज्ञान को काफी सफलता मिली है। प्रयोगशालाओं में रक्त, मल, मूत्र, वीर्य, मांस,मज्जा आदि शरीर के अवयवों का परीक्षण कर उसमें आवश्यक तत्त्वों के असन्तुलन को समझ शारीरिक रोगों के निदान को तर्कसंगत बना दिया है। तथा उसके अनुरूप बाह्य साधनों से उनका सन्तुलन कर शीघ्र राहत पहुँचाने में उत्साहजनक प्रगति की है। छुआछूत रोगों के नियंत्रण, महामारियों की रोकथाम, दुर्घटना जैसी परिस्थितियों में अभी तक अन्य वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियाँ इतनी अधिक तुरन्त राहत पहुँचाने में सक्षम नजर नहीं आतीं, जितनी आधुनिक चिकित्सा के परिणाम है।

आधुनिक चिकित्सकों को शरीर के प्रत्येक अंग, उपांग, अवयवों के क्रियाकलापों की जितनी विस्तृत भौतिक जानकारी होती है, उतनी प्रायः वैकल्पिक चिकित्सकों को नहीं होती।

वैकल्पिक चिकित्सक को भले ही शरीर के प्रत्येक अंगों अथवा अवयवों की सूक्ष्म जानकारी न भी हो, फिर भी अधिकांश स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियाँ आत्मिक अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं करती। रोग का कारण रोगी की अप्राकृतिक जीवन शैली में ही ढूँढ़ उपचार करती है। शरीर के विभिन्न अंगों का गहनतम शोध करना

गलत नहीं, उसका बहुत महत्त्व है। उपयोगिता और आवश्यकता है, परन्तु उससे भी ज्यादा जरूरी और प्राथमिक मन और आत्मा की शक्तियों की उपेक्षा कहाँ तक उचित है? स्वच्छ कपड़े पहनकर आभूषण पहनने से शरीर की शोभा काफी बढ़ जाती है। फटे-पुराने अथवा गन्दे कपड़ों पर आभूषण शोभा नहीं देते। बिना कपड़े आभूषण पहनने वालों को मूर्ख अथवा पागल कहते हैं। उपचार के नाम पर आत्मा और मन को विकारी बनाने वाले स्वयं निर्णय करें कि उनकी प्राथमिकता कितनी सही है?

चिकित्सा हेतु जनसाधारण की मानसिकता :-

उपर्युक्त सभी कारणों से आज जनसाधारण एवं स्वास्थ्य मंत्रालय आधुनिक चिकित्सा के नाम से प्रचलित अंग्रेजी एलोपैथिक चिकित्सा को ही चमत्कारिक, प्रभावशाली और वैज्ञानिक मानता है। अन्य प्रभावशाली वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों की वैज्ञानिकता पर अधिकांश व्यक्ति सन्देहास्पद दृष्टिकोण रखते हैं। जब तक कोई तथ्य आज के तथाकथित भौतिक विज्ञान द्वारा मान्य अथवा प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक प्राय: जनसाधारण ऐसी पद्धतियों के बारे में जानने, समझने, सुनने, स्वीकारने और अपनाने में संकोच करता है। भले ही वे पद्धतियाँ अनुभूत सत्य पर ही आधारित क्यों न हों?

परिणामस्वरूप अधिकांश रोगी जो उपचार भले ही वैकल्पिक चिकित्सा से करवाते हों, परन्तु निदान तो आधुनिक चिकित्सकों के परामर्श एवं निर्देशानुसार करवाना आवश्यक समझते हैं। रोग में राहत मिलने के बाद तथा रोग के लक्षणों के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी जब तक एलोपैथिक डॉक्टर रोग की अनुपस्थिति की पुष्टि नहीं करते, तब तक उनमें उपचार की विश्वसनीयता पर सन्देह बना रहता है। श्रद्धा और समर्पण के अभाव में उपचार की प्रभावशीलता तो वैस ही कम हो जाती है। ऐसे रोगी अपनी मानसिकता के कारण वैकल्पिक चिकित्सा का पूर्ण लाभ नहीं ले पाते। वैकल्पिक चिकित्सा के लम्बे-चौड़े दावे करने वाले बहुत से चिकित्सक, जिन्हें अपनी चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों की जानकारी नहीं होती अथवा पूर्ण अनुभव नहीं होता, वे चिकित्सक आत्मविश्वास एवं वैकल्पिक चिकित्साओं की प्रभावशीलता पर पूर्ण विश्वास न होने से स्वयं के रोगग्रस्त होने की स्थिति में अपनी चिकित्सा पद्धति से निदान अथवा उपचार करने के बजाय तात्कालिक राहत हेतु ऐलोपैथिक उपचार लेना पसन्द करते हैं, तो सारे दावे जनसाधारण को खोखले लगने लगते हैं। परिणामस्वरूप जनसाधारण वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता।

पौराणिक जीवन शैली का विस्मरण :-

भौतिक विज्ञान से जहाँ बुद्धि का विकास हो रहा है, वहीं शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आत्मिक स्तर पर मानव दुर्बल और परावलम्बी होता जा रहा है। आत्मिक आनन्द से अनभिज्ञ आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान के विस्तार से जनसाधारण का रोग के कारणों के प्रति मौलिक चिन्तन स्वाध्याय की प्रवृत्ति घटती जा रही है। हमारे ऋषि-मनीषियों ने अपने अनुभव के आधार पर जीवन शैली को प्रकृति के अनुरूप जिस सहज रूप से ढाला, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रह सके, आज यह चिन्तन गौण होता जा रहा है। जैसे मौसम के बदलाव से जुड़े हमारे त्यौहार, रीति-रिवाज, पर्व, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र, आभूषण, आराधना पद्धति व्रत, उपवास, लोक संगीत, सुख-दु:ख के प्रसंगों पर सामूहिक भागीदारी आदि के पीछे स्वास्थ्य विज्ञान का पूर्ण आधार था, परन्तु आज हम उसके महत्त्व को भूलकर, पश्चिमी देशों के अन्धा:नुकरण और वैज्ञानिकता की आड़ में जो जीवन शैली नि:संकोच अपना रहे हैं, उससे स्वास्थ्य की समस्याएँ बढ़ती जा रही है।

भौतिकतावादी मानव का दृष्टिकोण :-

भौतिक विचारधारा वालों का दृष्टिकोण प्रायः स्वार्थी संकुचित होता है। तात्कालिक लाभ के लिए होता है। उनकी प्राथमिकताएँ मन के अनुकूल इन्द्रियों के पोषण की अधिक होती है। खाओ, पीयो और मौज करो। वह आत्मा का अस्तित्व मृत्यु तक ही मानता है। शरीर और आत्मा को एक ही मानता है। जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व को जानने, समझने, स्वीकारने हेतु प्रयास नहीं करता। उनका मुख्य ध्येय शारीरिक पोषण एवं स्वास्थ्य तक ही सीमित होता है तथा उसके लिए कभी-कभी मन, भाव और आत्मा को विकृत करते तनिक भी संकोच नहीं करता।

आधुनिक विज्ञान और स्वास्थ्य

विज्ञान क्या है ?

किसी भी वस्तु के सुक्ष्मावलोकन एवं विश्लेषण से प्राप्त यथार्त ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मतलब ऐसी क्षमता से कार्य करना है जिसमें कम से कम निवेश में लाभ अधिक से अधिक हो तथा हानि और दुष्प्रभाव भी कम से कम हो। सत्य की खोज का नाम विज्ञान है। अर्थात् विज्ञान का मतलब पूर्ण ज्ञान, सम्यक् ज्ञान। विज्ञान सत्य को स्वीकारता है और झूठ को नकारता है। उसका एक मात्र आग्रह, पूर्ण सत्य पर होता है। जैसे-जैसे आंशिक अथवा अधूरे सत्य की पोल खुलने लगती है वर्तमान की वैज्ञानिक मान्यता को भविष्य में अवैज्ञानिक करार दे दिया जाता है। अर्थात् जो सत्य को परिभाषित करता है, वही विज्ञान है। विज्ञान का आधार होता है- **''सच्चा सो मेरा''** न कि **''मेरा जो सच्चा''**। वास्तव में जो सत्य है उसको स्वीकारने में किसको आपत्ति हो सकती है। परेशानी तो तब होती है जब विज्ञान के नाम पर आंशिक तथ्यों पर आधारित, अधूरे सत्य को पूर्ण बतलाने का प्रयास किया जाता है कभी-कभी अपनी बातों को वैज्ञानिक बतलाने हेतु मायावी आंकड़े, झूठे भ्रामक विज्ञापनों एवं संख्या बल का सहयोग लिया जाता है तथा वास्तविकता एवं सनातन सत्य को नकारा जाता है। अपनी पद्धतियों को वैज्ञानिक तथा अन्य पद्धतियों को अवैज्ञानिक बतलाने का दुष्प्रचार किया जाता है। हमारा दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। विज्ञान के मूल मापदण्ड गौण होने लगते हैं। किसी भी तथ्य को वैज्ञानिक मानने के लिए अंतिम परिणामों की एकरूपता भी आवश्यक है, भले ही वह प्रयोग किसी के द्वारा कहीं पर भी क्यों न किया गया हो।

आधुनिक चिकित्सकों का अपनी खोजों की वैज्ञानिकता सिद्ध करने का दावा लगभग प्रायः ऐसा ही लगता है। विशेषकर स्वास्थ्य के नाम पर आयोजित होने वाले कांफ्रेंसों में प्रस्तुतीकरण का ऐसा ही आधार होता है। वैज्ञानिक शोध का आधार होना चाहिए अंतिम परिणामों का स्पष्ट प्रकटीकरण। अर्थात लाभ और हानि का सही विश्लेषण। प्रत्येक चिकित्सक अपनी उपलब्धियों को तो बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करते हैं, प्रचारित करते हैं, परन्तु जहाँ-जहाँ अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते अथवा दुष्प्रभाव पड़ते हैं, उनके कारणों का विश्लेषण तक नहीं करते हैं। स्वास्थ्य विज्ञान की शोध के आधार में एकरूपता होनी चाहिए। अर्थात् जिन रोगियों अथवा प्राणियों पर दवाओं अथवा उपचार के जो प्रयोग किए जाते हैं, उनका खान-पान, रहन-सहन, स्वभाव, मानसिकता, आचार-विचार, सोच, चिन्तन-मनन की प्रक्रिया, पारिवारिक समस्याएँ तथा शरीर में अप्रत्यक्ष एवं सहयोगी रोगों की एकरूपता भी आवश्यक होती है। क्योंकि ये ही कारण रोग से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ सभी रोगियों में एक सी होना कभी भी सम्भव नहीं होती। अतः प्रस्तुत परिणाम कैसे वैज्ञानिक और सत्य पर आधारित समझे जा सकते हैं ? चिन्तन का प्रश्न है।

जीवन में चेतना का महत्त्व :-

सारा शरीर मुख्यतया दो प्रकार की ऊर्जाओं से संचालित होता है। प्रथम भौतिक ऊर्जा तथा दूसरी चैतन्य ऊर्जा। किसी एक के पूर्ण अभाव में मानव जीवन चल ही नहीं सकता। भौतिक ऊर्जा शरीर के अंगों, उपांगों, अवयवों, तंत्रों आदि के निर्माण हेतु आवश्यक साधन उपलब्ध करने में सहायक होती है और चैतन्य ऊर्जा उन उपलब्ध साधनों से उनका निर्माण, संचालन और नियंत्रण करती है। चैतन्य ऊर्जा के अभाव में न तो शारीरिक अवयवों आदि का निर्माण ही सम्भव है और न ही जीवन। इसी कारण भौतिक विज्ञान के विकास के बावजूद चैतन्य ऊर्जा के अभाव में अभी तक शरीर के लिए आवश्यक कोशिकाओं, रक्त, अस्थियों, माँस पेशियों, नाड़ियों, वीर्य आदि अवयवों आँख, कान, नाक जैसी इन्द्रियों, हृदय, फेंफड़े, गुर्दे, लीवर जैसे अंगों का निर्माण प्रयोगशालाओं में सम्भव नहीं हो सका। चैतन्य ऊर्जा का विकास आत्मा की पवित्रता के अनुसार होता है। अतः उपचार करते समय जो चिकित्सा पद्धतियाँ भौतिक और चैतन्य ऊर्जाओं को ठीक रखने, सन्तुलित रखने के सिद्धान्तों पर कार्य करती हैं, वे ही अपने आपको वैज्ञानिक बतलाने का वास्तव में दावा कर सकती हैं।

भौतिक विज्ञान की सीमाएँ :-

भौतिक विज्ञान का आधार वही पदार्थ होता है, जिसे कि दिखाया जा सके, जो मापा जा सके, जो प्रयोगों, परीक्षणों से प्रमाणित किया जा सके। ऐसे परिणाम जो तथ्य, तर्क एवं आंकड़ों से लिपिबद्ध किए जा सके। जिसका आधार निरीक्षण, विश्लेषण, निश्चित प्रक्रिया पर आधारित व्यवस्थित आंकड़ों द्वारा संकलित एवं प्रमाणित हो। जिसका उपयोग, संचालन, नियंत्रण प्रायः व्यक्ति स्वयं अथवा अन्य कोई व्यक्ति द्वारा निश्चित विधि का पालन कर बिना किसी बाह्य भेदभाव कहीं भी किया जा सके। आवश्यकता पड़ने पर जिसका पुनरावर्तन किया जा सके जैसे विज्ञान द्वारा विकसित सभी सुविधाओं के साधन, उपकरण, यंत्र आदि का उपयोग कोई भी कर सकता है। उपर्युक्त मापदण्डों को जो पूर्ण न करते हो, उनको आज का मानव वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार करते संकोच करता है। भले ही वह अनुभूतियों द्वारा प्रमाणित ही क्यों न हो? उपर्युक्त मापदण्डों के आधार पर विज्ञान के नाम पर आज तक जो कुछ उपलब्धियाँ विकसित हुई हैं अथवा हो रही है, उन सभी का सम्बन्ध प्रायः भौतिकता से ही होता है। अनुभूति, चेतना की ऊर्जा का माप और अप्रत्यक्ष पड़ने वाले प्रभाव उसमें उपेक्षित होते हैं। सभी अदृश्य, अरूपी पदार्थ उसकी पकड़ में नहीं आते।

जड़ विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान में भेदः-

ज्ञान विज्ञान के लिए आवश्यक है। फिर भी ज्ञान तो वहीं तक हमारा साथ दे सकता है, जहाँ तक वह जानता है और सिद्ध कर सकता है। इन्द्रिय ज्ञान से पार अतिन्द्रिय ज्ञान का भी अस्तित्व होता है। जिसे आध्यात्मिक विज्ञान अथवा आत्म ज्ञान कहा जा सकता है। टेप आवाज को ग्रहण कर पुनः सुना सकता है। रेडियों, टी.वी., वी.सी.आर, कम्प्यूटर, रोबोट आदि मनुष्य की आज्ञानुसार कार्य तो करते हैं, परन्तु स्वतः संचालित नहीं होते। आपत्तिकाल में आवश्यक स्वतन्त्र निर्णय लेने में सक्षम नहीं होते।

जड़ विज्ञान का कार्य क्षेत्र होता है- भौतिक विकास, भौतिक सफलताएँ, भौतिक उपलब्धियाँ आदि। उसका आधार होता है परावलम्बन, जबकि आध्यात्मिक विज्ञान से आत्म विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। उसका आधार होता है स्वावलम्बन। अर्थात् स्वयं के द्वारा स्वयं का निरीक्षण, परीक्षण, नियंत्रण, संचालन। उसका परिणाम होता है-

आत्मानुभूति। मनोबल और आत्मबल का विकास, अर्थात् भौतिक विज्ञान व्यक्ति को विशिष्ट बनाता है, जबकि आध्यात्मिक ज्ञान मानव को स्वाभाविक बनाता है।

भौतिक विज्ञान प्रयोग में विश्वास करता है, जबकि आध्यात्म विज्ञान योग में। विज्ञान शक्ति की खोज करता है, जबकि आध्यात्म शान्ति की। जिस प्रकार बिजली का तार और उसमें प्रवाहित विद्युत अलग-अलग होती है। उसी प्रकार जड़ से सम्बन्धित शरीर और चेतना से संबंधित आत्मा अलग-अलग होती है। अतः दोनों से सम्बन्धित ज्ञान का लक्ष्य भी अलग-अलग होता है।

अध्यात्म से शून्य स्वास्थ्य विज्ञान अपूर्ण :-

जिस चिकित्सा में शारीरिक स्वास्थ्य ही प्रमुख हो, मन, भावों अथवा आत्मा के विकार जो अधिक खतरनाक, हानिकारक होते हैं, गौण अथवा उपेक्षित होते हों, ऐसी चिकित्सा पद्धतियों को ही वैज्ञानिक समझने वाले, विज्ञान की बातें भलें ही करते हों, विज्ञान के मूल सिद्धान्तों से अपरिचित लगते हैं। विज्ञान शब्द का अवमूल्यन करते हैं। सनातन सत्य पर आधारित प्राकृतिक सिद्धान्तों को नकारते हैं। ऐसी सोच गाड़ी में पेट्रोल डाल चालक को भूखा रखने के तूल्य है। ऐसी गाड़ी में यात्रा करने वाला यात्री लम्बी दूरी की यात्रा कैसे कर सकेगा। यह चिन्तन का प्रश्न है? उसी प्रकार चेतन चालक की उपेक्षा कर जड़ शरीर रूपी वाहन का ही ख्याल रखने वालों को ज्ञानी, समझदार, बुद्धिमान कैसे कहा जाए?

आध्यात्मिक स्वास्थ्य विज्ञान का सिद्धान्त :-

स्वास्थ्य एवं जीवनायापन की दृष्टि से आत्म-साधकों का जीवन प्राणी मात्र के प्रति करुणा, दया और अनुकम्पा, ''सर्व जीव हिताय, सर्व जीव सुखाय'' की लोकोक्ति को सार्थक करने का होता है। उनके शोध और साधना का मूल उद्देश्य आत्मा को निर्मल, शुद्ध, पवित्र बनाना होता है। अर्थात् आत्म-पोषण का होता है। भले ही उन्हें कभी-कभी उसके लिए शरीर को कष्ट ही क्यों न देना पड़े? उनके जीवन में क्रोध, मान, माया, लोभरुपी कषायों की मन्दता होने से वे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में परेशान नहीं होते। उनमें प्रायः मानसिक आवेग नहीं आते जो हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित कर रोग का मुख्य कारण होते हैं। प्रायः ऐसे व्यक्ति सहनशील, सहिष्णु निर्भीक, और धैर्यवान होते है। वाणी में विवेक और मधुरता का सदैव ख्याल रखते हैं। उनका उद्देश्य होता है जीवन में चिरस्थायी आनन्द, शक्ति एवं स्वाधीनता की प्राप्ति। वे स्वयं के द्वारा स्वयं से अनुशासित होते हैं। उनका जीवन शान्त, सन्तोषी, संयमी, सहज, संतुलित एवं सरल होता है। विचारों में अनेकान्तता, भावों में मैत्री, करूणा, प्रमोद तथा मध्यस्थता अर्थात् सहजता, स्वदोष-दृष्टि, सजगता, सहनशीलता, सहिष्णुता, दया, सरलता, सत्य, विवेक, संयम, नैतिकता आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव, निस्पृहता, अनासक्ति विकसित होती है। व्यक्ति निर्भय, तनाव मुक्त बन जाता है। वाणी में सत्य के प्रति निष्ठा सभी जीवों के प्रति दया, करूणा, मैत्री, परोपकार जैसी भावना और मधुरता प्रतिध्वनित होने लगती है। व्यक्ति का मनोबल और आत्मबल विकसित होने लगता है। व्यक्ति स्वावलम्बी, स्वाधीन बनने लगता है।

आत्मा की पवित्रता बिना पूर्ण उपचार असम्भव :-

चैतन्य चिकित्सा अर्थात् आध्यात्मिक चिकित्सा पूर्णतया स्वावलम्बी होती है। जिसके अन्तर्गत पातंजली अष्टांग योग के अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम से ध्यान समाधि की साधना आती है। परन्तु आज यम, नियम की उपेक्षा कर योग को आसन और प्राणायाम तक सीमित करने से यौगिक चिकित्सा को शारीरिक रोगों तक ही

सीमित कर दिया गया है। इसी प्रकार जैन द्वादशांग योग के अनुसार योग से अयोग का साक्षात्कार के रूप मं आत्मिक विकास का जो क्रम प्रथम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान अवस्था को प्राप्त करने का साधना पथ है जो ''कर्म निर्जरा चिकित्सा पद्धति'' के नाम से आगमों में चर्चित है।

आत्मा के विकार-मुक्त होने से शरीर, मन और मस्तिष्क तो स्वतः ही स्वस्थ हो जाता है। आध्यात्मिक चिकित्सा में मन, मस्तिष्क, शरीर और वाणी का उपयोग मात्र आत्म शुद्धि के लिए ही किया जाता है और जब आत्मा के ये प्रतिनिधि उस कार्य में सहयोग देना बन्द कर देते हैं, तो उनकी भी उपेक्षा कर दी जाती है। इसके विपरीत अन्य चिकित्साओं का लक्ष्य मात्र शरीर, मन अथवा मस्तिष्क की स्वस्थता तक ही सीमित होता है। आत्मा की तरफ लक्ष्य न होने से प्रायः आत्मा के सद्‌गुणों की चिकित्सा करते समय उपेक्षा हो जावे तो भी कोई आश्चर्य नहीं? आत्मा को विकारी, अपवित्र बनाने वाली चिकित्सा पद्धतियों का उद्देश्य नौकर को मालिक से ज्यादा महत्त्व देने के समान अबुद्धिमत्ता पूर्ण ही समझा जाना चाहिए।

चेतना के तीन स्तर :-

हमें शरीर चला रहा है या मन। प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि इस शरीर को मन चला रहा है। तब फिर मन को कौन चला रहा है? मन को भाव चला रहा है। शरीर, मन और भाव हमारी चेतना के तीन स्तर है। हमारी चेतना इन तीनों स्तरों पर कार्य करती है। पहला स्तर शरीर का दूसरा मन का और तीसरा स्तर है भावना का। सबसे पहले हमारे सामने शरीर आता है। हम शरीर के आधार पर निर्णय लेते हैं, व्यक्ति कैसा है? उसकी संरचना एवं आकृति एवं हलन-चलन देख हम अनुमान लगा सकते हैं कि वह हृस्ट पुष्ट है अथवा कमजोर या बीमार। दुःखी, चिन्तित या तनावग्रस्त आदि। यह बाह्य दृष्टि है। केवल चमड़ी, चेहरे, चाल और चर्बी को देखकर अथवा रंग और आकार को देखकर अनुमान लगा लेते हैं, एक दृष्टि बना लेते हैं, भीतर की बात समझ में नहीं आती। वह कितना दुःखी है? उसका बोध शरीर से नहीं होता। जब मन अस्वस्थ है, तो सुख पाने का प्रश्न ही नहीं होता। शरीर की अस्वस्थता अस्पताल ले जाती है और मन की अस्वस्थता वाले को पागलखाने जाना पड़ता है। शरीर से मन सूक्ष्म है, इसी कारण यह पकड़ में नहीं आता। मन अस्वस्थ है क्योंकि भावनाएँ स्वस्थ नहीं। भावना मन से भी ज्यादा सूक्ष्म है। अतः जब तक भावनात्मक संतुलन मन से भी ज्यादा सूक्ष्म है। अतः जब तक भावनात्मक संतुलन नहीं होता, शान्ति और बदलता है? आदतें क्यों बदलती हैं? इसका अभिप्राय यह है कि भावना के स्तर पर हमारी चेतना ठीक कार्य नहीं करती। जीवन संचालन के लिए शरीर के भौतिक अवयवों का संतुलन उतना ही आवश्यक है, जितना चेतना की उपस्थिति एवं अस्तित्व का। आज के भौतिक स्वास्थ्य विज्ञान ने शारीरिक अवयवों के संचालन, नियंत्रण और सन्तुलन करने में तो चमत्कारी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रोगों में राहत दिलाने में सफलता भी मिली हैं। परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रोगों में राहत दिलाने में सफलता भी मिली है, परन्तु उसके साथ रोग के कारण हेतु चैतन्य की जो भूमिका है, उसको जितना महत्त्व देना चाहिए, उतना नहीं दे रही है। इसके विपरीत चैतन्य ऊर्जा की न केवल अनदेखी हो रही है, अपितु खुले आम उपेक्षा हो रही है। परिणामस्वरूप नई-नई समस्याएँ खड़ी हो रही है। नित नए रोगों का प्रादुर्भाव हो रहा है।

चेतना के विकास की जितनी विकसित सम्भावना मानव शरीर में होती है उतनी जीवों में नहीं होती। व्यक्ति जितना ऊपर होता है यदि सावधानी न रखे तो, नीचे गिरने की सम्भावनाएँ भी उतनी ही ज्यादा रहती है। कोई भी जानवर कल के भोजन तक की चिन्ता नहीं करता। उसको आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धान्तों और नियमों की तनिक भी जानकारी नहीं होती। अर्थात् क्या खाना और क्या नहीं खाना? कब, कैसे और कहाँ खाना? कैसा पानी पीना? वे कभी दातुन तक नहीं करते और न उन्हें चश्में की ही आवश्यकता होती है। जंगल में रहने वाले जानवर क्यों

कम रोगी होते हैं तथा अपना उपचार कैसे करते हैं? चिन्तन का प्रश्न है? उसका कारण है कि पशु जगत भूत की स्मृतियों तथा भविष्य में आने वाले संकटों की कल्पनाओं से तनावग्रस्त नहीं होता। वह तो वर्तमान में जीता है और प्रायः परेशान होता है तो वर्तमान में उपस्थित संकट, कष्ट अथवा पीड़ा के कारणों से। अतः रोग का प्रभाव और अनुभूति मानव को ही सर्वाधिक होती है। वे ही उसकी सर्वाधिक अभिव्यक्ति कर सकते हैं। जितने ज्यादा रोग के कारण होंगे, उतने ही ज्यादा रोग होंगे। आत्मा के विकार ही रोग के प्रमुख कारण हैं। जब तक रोग के कारण रहेंगे, व्यक्ति अस्वस्थ रहेगा। रोग के कारणों को बढ़ाने से रोग बढ़ेंगे और उन्हें दूर करने से व्यक्ति स्वस्थ होगा। यही स्वास्थ्य का सनातन सिद्धान्त है।

वैकल्पिक तथा एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में सैद्धान्तिक भेद

क्या उपचार में राहत ही पूर्ण चिकित्सा है?

रोग में राहत का मतलब है, किसी भी विधि द्वारा रोग के प्रभाव को कम करना जिससे दर्द, पीड़ा,बेचैनी कम हो जाए एवं शरीर में सहनीय स्थिति उत्पन्न हो जाए। अर्थात् राहत का कार्य रोग को दबाना अथवा असक्रिय करने तक सीमित होता है, न कि रोग को मिटाने अथवा निष्क्रिय करने का। जैसे अंगारे पर राख आ जाने से उसकी गर्मी का प्रभाव कम हो जाता है। दीमक लगी लकड़ी पर रंग-रोगन करने से उसकी खराबी छिप जाती है। कचरे पर कपड़ा डालने से अस्वच्छता ध्यान में नहीं आती। जबकि अंगारे की गर्मी, लकड़ी में दीमक लगने से आने वाली खराबी एवं कचरे का दुष्प्रभाव बना रहता है। अतः जब तक रोग का कारण बना रहेगा, भविष्य में रोग होने की सम्भावनाएँ सदैव बनी रहेगी। अच्छे उपचार का मतलब रोग को जड़ से दूर करना। सदैव के लिए उसके कारणों, लक्षणों एवं प्रभाव को निष्क्रिय करना, ताकि भविष्य में उन कारणों से किसी भी रूप में रोग की पुनरावृत्ति न हो। आधुनिक चिकित्सा पद्धति का उद्देश्य एवं प्राथमिकताएँ तात्कालिक परिणामों पर आधारित होने से प्रायः राहत तक ही सीमित रहती है। उपचार के कारण भविष्य में पड़ने वाले दवाओं के दुष्प्रभावों की उपेक्षा होती है। संक्रामक और असाध्य रोगों में तो दवा जीवनपर्यन्त आवश्यक बन जाती है। क्या राहत को ही पूर्ण उपचार मानने वाली चिकित्सा पद्धति वैज्ञानिक कहलाने का दावा कर सकती है?

वर्तमान में एलौपैथिक चिकित्सा की पोषक सरकारी नीतियाँ-

एलोपैथिक चिकित्सा की तथा कथित विशेषताओं के कारण तथा मानव की भौतिक दृष्टि की प्रधानता होने से यह पद्धति वर्तमान युग में अधिकांश देशों में सर्वमान्य बन गई है। उसे ही पूर्णतया वैज्ञानिक समझा जा रहा है। उसी को सरकारी मान्यता, संरक्षण एवं पूर्ण सहयोग और सुविधाएँ उपलब्ध है। स्वास्थ्य मंत्रालय और चिकित्सा से सम्बन्धित नीति निर्माता एवं सरकारी संचार एवं प्रचार माध्यम उनके प्रति पूर्ण रुचि लेकर खुल्लम-खुल्ला प्रचार कर रहे हैं। वैकल्पिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों के प्रचार-प्रसार हेतु अपेक्षित बजट का प्रावधान नहीं है। सारे स्वास्थ्य मंत्रालय पर अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति के प्रशंसको, हित चिन्तकों, समर्थकों का पूर्ण नियंत्रण है। अंग्रेजी चिकित्सा को वैज्ञानिक, विकासोन्मुख प्रभावशाली, उपयोगी तथा वैकल्पिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों को अवैज्ञानिक, अविकसित, अनुपयोगी, प्रभावहीन, सहयोगी चिकित्सा के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। आधुनिक चिकित्सा एवं दवाओं के दुष्प्रभावों से जो नए-नए रोग उत्पन्न हो रहे हैं उनका कारण, समाधान उनसे सम्बन्धित चिकित्साकों से पूछा जा रहा है। स्वास्थ्य के प्रति सजग लोगों के लिए चिन्तन का विषय है।

दवा निर्माताओं के लुभावने, मायावी, भ्रामक विज्ञापनों एवं दबाव के कारण तथा सरकार का पूर्वग्रसित अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण तथा प्रभावशाली वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों का सही ज्ञान नहीं होने के कारण हमारा स्वास्थ्य मंत्रालय एलोपैथिक चिकित्सा के हितों का पोषक बनकर कार्य कर रहा है। एलोपैथिक चिकित्सा के दुष्प्रभावों को छुपाने की प्रवृति तथा लाभ के एक पक्षीय मिथ्या प्रवृत्ति आंकड़ों को प्रचारित करने की सरकारी माध्यम से छूट मिलने के कारण, राष्ट्र की भोली जनता भ्रमित हो अपने स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कर रही है। जबरदस्ती टीकाकरण उसी मानसिकता का परिणाम है। चिकित्सा के मामले में आज हम कितने स्वतंत्र है, चिन्तन का प्रश्न है ?

जैसी सरकारी व्यवस्था होगी, वैसा ही कानून होगा। न्यायाधीश को उसी के अनुरूप ही न्याय करना होगा। भले ही वह न्याय गलत अथवा जनहित के प्रतिकूल ही क्यों न हो ? हमारे आज्ञाकारी शिक्षक और शिक्षा अधिकारी सरकारी निर्देशों का आँख मींच निर्वाह करते हैं। उनको भावी पीढ़ी के स्वास्थ्य के बारे में चिन्तन का अवकाश कहाँ, किसी में इतना साहस कहाँ, जो गलत परम्पराओं का प्रतिकार कर सके ?

आज हमारे स्वास्थ्य पर चारों तरफ से आक्रमण हो रहा है। सरकारी मंत्रालयों की नीतियों में स्वास्थ्य गौण है। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक प्रदूषण, पर्यावरण, दुर्व्यसनों के सेवन एवं अन्य दुष्प्रवृत्तिों पर प्रभावशाली कानूनी प्रतिबन्ध नहीं है। अपितु ये सरकारी संरक्षण में पनप रहे है। आज रक्षक ही भक्षक बन रहे हैं। मिलावट, अनैतिकता, दुराचरण आम बात हो गई है, सारा वातावरण पाशविक वृत्तियों से दूषित हो रहा है।

वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति सरकारी सोच-

जब तक सरकारी सोच में बदलाव नहीं आएगा, रोग के मूल कारणों को जानने व समझने की उपेक्षा होगी, दुष्प्रभावों की अनदेखी होगी, चिन्तन में तथ्यपरक अनेकान्त दृष्टिकोण नहीं आएगा, तब तक सरकार से अच्छे स्वास्थ्य हेतु सहयोग की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा। इसी कारण जितने ज्यादा चिकित्सा बढ़ रहे हैं, अस्पताल खुल रहे हैं उससे तेज रफ्तार में नए-नए रोग व रोगियों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

कारण चाहे जो हों तथाकथित वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियाँ सरकारी उपेक्षा की शिकार हैं। अभी तक सरकार द्वारा न तो उन पर शोध को अपेक्षित प्रोत्साहन दिया जा रहा है व न ही उनके प्रशिक्षण एवं उपचार व्यवस्था की ओर सरकार का विशेष ध्यान ही जा रहा है। भले वे चिकित्सा के मापदण्डों में सरकारी मान्यता प्राप्त विकसित और वैज्ञानिक समझी जाने वाली आधुनिक चिकित्सा पद्धति से काफी आगे ही क्यों न हों ? विभिन्न देशों में उन पर व्यापक शोध, विकास और प्रचलन बढ़ने से विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी संस्थाओं का भी ध्यान आकर्षित हुआ और उन्हें मान्यता मिली परन्तु हमारे सरकारी तंत्र की सोच अपने पूर्वाग्रहों एवं दवा निर्माताओं के दबाव के कारण उस दिशा में अभी तक तो पूर्ण उपेक्षित है, भविष्य में क्या होता है, कहा नहीं जा सकता। उसका परिणाम यह हुआ मानो परीक्षा में 25 अंक प्राप्त करने वालों को सर्वश्रेष्ठ तथा 60 से 70 अंक प्राप्त करने वालों को अयोग्य घोषित किया जा रहा है। मैट्रिक पास व्यक्ति एम.ए. वालों को पढ़ाने की भूमिका निभा रहा है। क्या स्वास्थ्य मंत्रालय के सम्बन्धित नीति निर्माताओं ने वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञों से परामर्श कर समझने का प्रयास किया है ? प्रकृति का यह मौलिक सिद्धान्त है कि रोग जिस स्थान, वातावरण एवं परिस्थितियों में उत्पन्न होता है, उसका उपचार उसी वातावरण, परिस्थितियों में उपलब्ध धरती के अवयवों में समाहित होता है। अतः पौराणिक चिकित्सा पद्धतियों के सिद्धान्त और उपचार का तरीका भारत की जलवायु एवं संस्कृति व वातावरण के ज्यादा अनुकूल होना चाहिए, जिस पर पूर्वाग्रह छोड़ अनेकान्त दृष्टि से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनः शोध एवं व्यापक चिन्तन आवश्यक है।

आधुनिक चिकित्सा को सर्वेसर्वा मानने का दुष्परिणाम-

आधुनिक चिकित्सा पद्धति को अत्यधिक महत्त्व मिलने तथा सरकारी मान्यता, सहयोग और संरक्षण मिलने के कारण अधिकांश डॉक्टरों में वैकल्पिक चिकित्साओं के प्रति गुण ग्राहकता नजर नहीं आती। कभी-कभी तो वे अनायास उन पर बिना सोचे-समझे आरोप अथवा मिथ्या प्रचार करते तनिक भी नहीं हिचकिचाते। जनमानस की उनके प्रति अटूट आस्था होने से उनके कथनों का जनता पर ज्यादा और जल्दी प्रभाव पड़ता है। क्लोन, जीन और टेस्ट ट्यूब बेबी के सफल परीक्षणों के कारण अब चन्द स्वास्थ्य वैज्ञानिक जन्म और मृत्यु के नियंत्रण का दावा करते हुए भी संकोच नहीं करते। विज्ञापन, अन्धा:नुकरण, भीड़भाड़ वाले शीघ्रता के इस युग में अज्ञानवश अपनी क्षमताओं से अपरिचित होने के कारण तथा प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों और आयुष्य कर्म के सिद्धान्तों पर विश्वास न होने के कारण आज के डॉक्टरों को भगवान से ज्यादा महत्त्व मिल रहा है। कभी-कभी डॉक्टर ऐसा कहते सुने गए हैं कि समय पर डॉक्टर की उपलब्धता के कारण रोगी को मृत्यु से बचाया जा सका, मानों अस्पतालों में डॉक्टरों की उपस्थिति में शायद ही कोई मरता हो। दुष्प्रभावों की उपेक्षा तथा रोगी की विवशता के कारण मानव सेवा का यह कार्य मात्र स्वार्थ-पोषण और अर्थ सम्बन्ध में उत्पन्न शंकाओं का सही समाधान नहीं बतलाया जा रहा है, परिणामस्वरूप अपनी असजगता के कारण आज रोगी डॉक्टरों की प्रयोगशाला बन सकता है।

आधुनिक चिकित्सा को सरकारी मान्यता एवं सहयोग मिलने के कारण अन्य चिकित्सा पद्धतियों से जुड़े चिकित्सकों की मानसिकता बदलने लगी है। अपने सिद्धान्तों के आधार पर निदान कर उपचार करने के स्थान पर एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के निदान को आधार मान अधिकांश वैकल्पिक चिकित्सक अपनी-अपनी चिकित्सा पद्धतियों द्वारा रोगियों का उपचार कर रहे हैं। वैकल्पिक चिकित्सा के पक्ष में यदि कोई एलोपैथिक डॉक्टर अपना मन्तव्य दे देता है तो उसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रचारित और प्रसारित किया जाता है, परन्तु स्वयं की पद्धतियों से पूर्ण सहयोग से पूर्ण मनोवेग से जुड़े अनुभवी चिकित्सकों के परिणामों और अभिव्यक्तियों को आत्मविश्वास के साथ नहीं स्वीकारा जाता। जो चिकित्सा पद्धतियाँ दूसरी पद्धतियों के दृष्टिकोण एवं विचारों को आधार बना अपनी गुणवता और प्रभावशीलता का विज्ञापन करे, वे चिकित्सा पद्धतियाँ भले ही कितनी ही प्रभावशाली क्यों न हो, ऐसे चिकित्सकों में प्राय: स्वयं की तथाकथित वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति आत्मविश्वास का अभाव होता है।

सिद्धान्तानुसार स्वतंत्र निदान आवश्यक-

अपने सिद्धान्तों के आधार पर स्वतंत्र निदान न करने से वैकल्पिक चिकित्सा की प्रभावशीलता कम हो जाती है। उदाहरण के लिए आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार रोग का कारण शरीर में वात, कफ और पित्त का असन्तुलन होता है। पुराने अनुभवी आयुर्वेद के विशेषज्ञ नाड़ी की गति देख शरीर में वात, कफ और पीत्त के असंतुलन से उत्पन्न विकारों को आसानी से पता लगा लेते, परन्तु आज के आयुर्वेदाचार्य न हो नाड़ी विज्ञान के अनुसार निदान ही करते हैं और न अधिकांश वैद्यों को उसका अनुभव परख ज्ञान ही होता है। आयुर्वेद में पहले रोगों की लम्बी-चौड़ी नामावालियाँ नहीं थी और न उसके अनुरूप (पेचीदा) उपचार की विधियाँ ही थी। दवाईयों के माध्यम से दी जाने वाली जड़ी बूटियाँ शुद्ध एवं सात्विक होती थी। क्योंकि वे प्राकृतिक वातावरण से ही प्राप्त होने से ऊर्जा से ओतप्रोत व प्रभावशाली होती थी। उनमें रोग को जड़मूल से समाप्त करने की क्षमता होती थी। वैद्य स्वयं दवा का निर्माण करता था। अत: उसके भावों की तरंगों का भी उस पर प्रभाव होता था। परन्तु आयुर्वेद में भी आज जो दवाइयाँ उपलब्ध होती हैं, उनका निर्माण प्राय: कारखानों में होता है। अत: वे पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं होतीं एवं उनमें शरीर के अवयवों को सन्तुलित करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। कारखानों में बनने वाली दवाओं का कानूनन परीक्षण मूक प्राणियों पर अनिवार्य

होता है। अतः उन बेजुबान जानवरों पर क्रूरता, निर्दयता होने से उनकी बद्दुवाओं की तरंगें दवा लेने वालों को प्रभावित किए बिना नहीं रहती। अर्थात् मूल सिद्धान्त के अनुसार निदान और उपचार न करने से उपचार की प्रभावशीलता कम हो जाती है।

एक्यूप्रेशर की रिफ्लेक्सोलाजी एवं सुजोक चिकित्सा पद्धति सिद्धान्तानुसार हथेलियों और पगथलियों में हमारे शरीर की समस्त नाड़ियों के प्रतिवेदन बिन्दु होते हैं। हथेली और पगथली के जिस भाग में दबाव देने से दर्द या पीड़ा का अनुभव होता है, वहाँ विजातीय तत्त्वों के जमाव होने की सम्भावना रहती है तथा उसके कारण उनके कारण उनसे सम्बन्धित शरीर के भाग में ऊर्जा का प्रवाह असन्तुलित हो जाता है, जो स्वास्थ्य की भाषा में रोग होता है। एक-सा दबाव देने पर जहाँ ज्यादा दर्द करने वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं का रोग से सीधा सम्बन्ध होता है तथा कम दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं सम्बन्ध रोग के परोक्ष कारणों से होता है। दर्द वाले सारे प्रतिवेदन बिन्दु रोग के पारिवारिक सदस्य होते हैं परन्तु आज एक्यूप्रेशर थैरेपिस्ट भी निदान के मूल सिद्धान्तों से हट कर मात्र रोग से प्रत्यक्ष प्रभावित अंगों के प्रतिवेदन बिन्दुओं का उपचार हेतु निर्धारण करते हैं। सीमित प्रतिवेदन बिन्दुओं पर उपचार करने से प्रभावशाली एक्यूप्रेशर का प्रभाव भी सीमित हो जाता है। कहने का आशय यही है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति को अत्यधिक महत्त्व मिलने से अन्य वैकल्पिक चिकित्सक रोगियों का अपने मूल सिद्धान्तानुसार स्वतंत्र निदान नहीं करते और न रोगी का पूर्ण उपचार ही करते हैं। परिणामस्वरूप वैकल्पिक चिकित्साओं में असाध्य समझे जाने वाले बहुत से रोगों का सहज, सरल उपचार होते हुए भी जनसाधारण को उसका शीघ्र लाभ नहीं मिलता।

वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों पर चिन्तन आवश्यक-

ऐसी परिस्थितियों में जन-साधारण भारत की पौराणिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों को सन्देहास्पद समझे तो आश्चर्य नहीं है। कोई भी चिकित्सा पद्धति अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होती और न ही कोई चिकित्सा पद्धति ऐसी होती है, जिसमें कोई विशेषता ही न होती हों। अर्थात् जो अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्त, मान्यताएँ, धारणाएँ हैं, वे ही सम्पूर्ण सत्य है और बाकी सभी चिकित्सा पद्धतियों को अवैज्ञानिक, अनुपयोगी, अविकसित, अनावश्यक बतला कर उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं है। किसी तथ्य को बिना सोचे-समझे स्वीकार करना मूर्खता है, तो किसी अनुभूत सत्य को बिना सोच समझे नकारना भी बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकता। हम किसी बात पर विश्वास न करें, परन्तु उस सम्बन्ध में बिना पूर्ण जानकारी, अज्ञानवश अविश्वास करना भी उचित नहीं है। जिस प्रकार यदि कोई अशिक्षित व्यक्ति अनुभवी डॉक्टरों की भरी सभा में चिकित्सा विषयों पर अधिकारपूर्वक बोले तो उसकी बात का क्या महत्त्व? उसकी क्या सार्थकता? उसी प्रकार जानकारी के अभाव में किसी विषय पर नीति सम्बन्धी अभिमत देना नासमझी है।

अवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धतियों पर प्रतिबन्ध क्यों नहीं?

यदि किसी अवैज्ञानिक पद्धति द्वारा राष्ट्र में सार्वजनिक रूप से उपचार किया जा रहा हो, स्वयं सेवी संस्था अथवा व्यक्तिगत स्तर पर ऐसी पद्धतियों का प्रचार-प्रसार हो रहा हो, तो उन पर प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाया जाता? उन पर अंकुश लगाने का दायित्व किनका?

आज अधिकांश असाध्य एवं संक्रामक रोगों की जड़ अथवा मूल कारण गर्भावस्था अथवा रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही अकारण, अनावश्यक शारीरिक स्वचालित, स्वःनियंत्रित क्रियाओं से छेड़छाड़ करना, दुष्प्रभावों की उपेक्षा कर दवाओं और रोग निरोधक टींके लगाकर शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमताओं को क्षीण करना है। सही निदान के अभाव में गलत उपचार, विकल्प होते हुए शल्य चिकित्सा को प्राथमिकता देना आदि कारण मुख्य होते हैं।

आज प्रजनन में शल्य चिकित्सा को प्राथमिकता देना आम बात हो गई है। शरीर में कोई अंग, उपांग व्यर्थ नहीं होता। जहाँ उपचार के अन्य विकल्प उपलब्ध हों, शल्य चिकित्सा द्वारा शरीर में छेड़छाड़ करना, जीवन भर रोगों को आमंत्रण देना है। ऐसे उपचारों का आधार वैज्ञानिक कैसे हो सकता है?

अच्छी चिकित्सा पद्धति के मापदण्ड-

अच्छी चिकित्सा पद्धति शरीर को आरोग्य ही नहीं, निरोग रखती है। अर्थात् इससे शरीर में रोग उत्पन्न ही न होता। रोग होने का कारण आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शारीरिक रोग), उपाधि (कर्मजन्य) के विकार होते हैं। अतः अच्छी चिकित्सा तीनों प्रकार के विकारों को समाप्त कर समाधि दिलाने वाली होती है। अच्छी चिकित्सा पद्धति के लिए आवश्यक है- रोग के मूल कारणों का सही निदान, स्थायी एवं प्रभावशाली उपचार। इसके साथ-साथ जिस पद्धति में रोग का प्रारम्भिक अवस्था में ही निदान हो सके तथा जो रोगों को रोकने में सक्षम हो। जो पद्धति सहज हो, सरल हो, सस्ती हो, स्वावलम्बी हो, दुष्प्रभावों से रहित हो, पूर्ण अहिंसक हो तथा जिसमें रोगों की पुनरावृत्ति न हो। जो चिकित्सा शरीर को स्वस्थ करने के साथ-साथ मनोबल और आत्मबल बढ़ाती हो तथा जो सभी के लिए, सभी स्थानों पर सभी समय उपलब्ध हो। अच्छी चिकित्सा पद्धति के तो प्रमुख मापदण्ड यही होते हैं। जो चिकित्सा पद्धतियाँ इन मूल सनातन सिद्धान्तों की जितनी ज्यादा पालना करती है, वे उतनी ही अच्छी चिकित्सा पद्धतियाँ होती है। अच्छी चिकित्सा का मापदण्ड भीड़ अथवा विज्ञापन नहीं होता अपितु अन्तिम परिणाम होता है। मात्र रोग में राहत ही नहीं, स्थायी उपचार होता है। दवाओं की दासता से मुक्ति होती है। अतः जो रोगी उपचार से पूर्व निदान और उपचार की सत्यता पर अपनी शंकाओं का चिकित्सक से सन्तोषजनक समाधान प्राप्त करने के पश्चात् उपचार कर पाता है, वह शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाता है।

युवा चिकित्सक एक रोग की पचास दवाएँ रखता है। चिकित्सक पचास रोगों की एक दवा और महान् चिकित्सक किसी भी रोग की कोई दवा नहीं रखता। हम स्वयं निर्णय करे, कौनसा उपचार अच्छा है?

उपचार करते समय रोगी से तालमेल आवश्यक-

अच्छे चिकित्सक का कार्य रोगी को जाग्रत करने का प्रयास होता है। उसका मनोबल, आत्मबल और सद्विवेक जाग्रत कर रोगी को उसकी क्षमताओं से परिचय कराने का होता है। सभी रोगी एक जैसे नहीं होते और न सभी रोगी अच्छे से अच्छे डॉक्टर से ठीक भी होते हैं। जिसके अन्दर का तत्त्व जितना-जितना जाग्रत होगा, उतना-उतना उस पर प्रभाव पड़ेगा। अतः चिकित्सक को रोगी के रोग से साक्षात्कार कराना होगा। रोग के मूल कारणों को समझ उनसे बचने हेतु प्रेरित करना होगा। रोगी से तालमेल ;ज्नददपदहद्ध पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति होती है। प्रायः हम देखते हैं, जब कोई नुकसान होता है तो मस्तिष्क उस हानि का आकलन करता है। तत्पश्चात् उसके अनुरूप प्रायः व्यक्ति को दुःख होता है, अथवा क्रोध आता है। इसी प्रकार जब कोई बुद्धिमान, समझदार व्यक्ति बचकानी हरकत अथवा अनहोनी शारीरिक चेष्टाएँ करता है तो मस्तिष्क की प्रतिक्रियानुसार हमें हँसी आती है, जबकि यदि कोई बच्चा वैसा ही आचरण करता है तो हमारा ध्यान उस पर नहीं जाता है, और न हम किसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ ही करते हैं। अतः जो रोगी चिकित्सा के प्रति सजग होगा, समर्पित होगा, चिन्तनशील होगा, उपचार के साथ अपनी मानसिकता, विवेक, विश्वास, भागीदारी रखेगा, उतना ही उपचार प्रभावशाली होगा। असजगता और शंकाशीलता उपचार के प्रभाव को घटाते हैं।

उपचार से पूर्व निदान की सच्चाई पर चिन्तन आवश्यकः-

जानवर चिन्तन और मनन नहीं कर सकता। मनुष्य ही अपनी बुद्धि, ज्ञान एवं सद्विवेक द्वारा भविष्य में आने वाली विपत्तियों से अपने आपको बचा सकता है। जो अपना भला बुरा न सोचे, दुष्प्रभावों की उपेक्षा करे, निदान और उपचार के तौर तरीके का विश्लेषण न करे, उसमें और पशु में क्या अन्तर है? उपचार से पूर्व रोगी को यथासम्भव निदान की सत्यता एवं उपचार की यथार्थता से आत्म-साधना करना चाहिए।

उपचार से पूर्व स्वास्थ्य के प्रति सजग व्यक्तियों को रोग का कारण एवं चिकित्सकों द्वारा निवारण हेतु दिए जा रहे उपायों हेतु अपनी शंकाओं का स्पष्टीकरण प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे किसी व्यक्ति के घुटनों में दर्द है, तो चिकित्सक से उसका कारण जानना चाहिए। दवा उस कारण को कैसे दूर करेगी? शरीर में उससे आवश्यक अवयव कौन बनाता है और उन अवयवों से कौन-कौन से तंत्र प्रभावित होते हैं? उस अवयव की कमी या उससे सम्बन्धित शरीर के अन्य स्थानों अथवा तंत्रों पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? जैसे दूसरे घुटने अथवा अन्य जोड़ों में दर्द क्यों नहीं दी जाती? क्या दवा में आवश्यक अवयवों की मात्रा का निर्धारण कम अथवा ज्यादा तो नहीं है? दवा से क्या-क्या दुष्प्रभाव सम्भावित हैं? मुँह में ली गई दवा का प्रभाव दर्द वाले स्थान पर कैसे और कितना पहुँचता है? दवा का प्रभाव कितनी देर तक रहता है? स्थायी क्यों नहीं? ऐसे सम्बन्धित प्रश्नों पर उपचार लेते समय रोगी अथवा उसके परिजनों को चिन्तन कर सम्यक् समाधान प्राप्त करना चाहिए? इतनी सजगता, जागृति और स्वविवेक जाग्रत होने से उपचार के प्रति रोगी की मानसिकता और आत्मविश्वास बढ़ेगा, उस पर अन्धेरे में उपचार नहीं होगा तथा ऐसा उपचार निश्चित रूप से प्रभावशाली होगा, भले ही किसी भी पद्धति द्वारा क्यों न किया जाए?

आधुनिक चिकित्सा को प्राथमिकता क्यों?

स्वास्थ्य विज्ञान की भौतिक उपलब्धियों तथा रोगों में तुरन्त राहत दिलाने की क्षमता के कारण, आज का मानव आधुनिक (एलोपैथिक) चिकित्सा पद्धति से अत्यधिक प्रभावित है। उसी को वैज्ञानिक मानता है क्योंकि एलोपैथिक चिकित्सा के पास जनसाधारण को आकर्षित करने हेतु सशक्त तर्क, निदान एवं उपचार हेतु काम के लिए जाने वाले नवीनतम उपकरणों की सुविधाएँ है तथा रोग को दबाकर शीघ्र राहत पहुँचाने वाली कला है। अपने प्रयोगों, परीक्षणों के परिणामों की सफलता एवं उपलब्धियों के आंकड़ों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का सम्बल है। प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता? उपर्युक्त सारी बातें अन्य चिकित्सा पद्धतियों में प्रायः न तो सरल हैं और न ही इतनी व्यवस्थित ढंग से अभी तक उपलब्ध है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति के दुष्प्रभावों के बावजूद जनसाधारण का उसके प्रति इतना आकर्षण क्यों? इसका मुख्य कारण वैकल्पिक चिकित्साओं में आवश्यकता के अनुरूप अनुभवी चिकित्सकों, व्यवस्थित संचालित अस्पतालों का अभाव है। एलोपैथिक चिकित्सा को सरकारी संरक्षण एवं मान्यता प्राप्त होने के कारण राज्य कर्मचारियों को उपचार हेतु सहयोग दिया जाता है तथा वे इसमें हुए व्यय के भुगतान के लिए वे ही अधिकृत होते हैं, जबकि अन्य चिकित्सा का खर्चा प्रायः मान्य नहीं होता। तीसरी बात, व्यक्ति अपनी क्षमताओं से अपरिचित होता है। चौथा कारण, आज का मानव जीवन पूर्णतया परावलम्बी होता जा रहा है। तात्कालिक राहत प्राप्त करने हेतु वह दुष्प्रभावों को गौण कर देता है। कहने का आशय यही है कि अज्ञान, अदिवेक, सद्चिन्तन की कमी, धैर्य एवं सहनशक्ति का अभाव होने के कारण ही अधिकांश व्यक्ति आधुनिक चिकित्सा पद्धति को सर्वप्रथम अपनाना चाहते हैं।

कभी-कभी तीव्र रोगों की स्थिति में जिनमें तुरन्त राहत अनिवार्य होती है, जैसे हृदयघात, तीव्रतम अस्थमा, चोट के कारण रक्त का बहाव, जलन, विषपान, दुर्घटना आदि में रोगी और परिजन को उपलब्ध सुविधा के अनुसार ऐलोपैथिक चिकित्सा का ही सहारा लेना पड़ता है। थोड़ी-सी असावधानी अथवा देरी भविष्य में अधिक हानिकारक हो सकती है। ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक रूप से किसी की भी मानसिकता वैकल्पिक चिकित्सा करवाने की नहीं होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि एलोपैथिक चिकित्सा में ही सभी परिस्थितियों का सम्यक् समाधान होता है और वैकल्पिक चिकित्सा में ऐसी परिस्थितियों में तुरन्त राहत पहुँचाने की क्षमता न हो, फिर भी बिना अनुभवी चिकित्सों के उपचार एवं प्रयत्न किए अन्य वैकल्पिक चिकित्सा को अप्रभावशाली बतलाना न्यायसंगत नहीं। जो अनुभवी चिकित्सकों के द्वारा वैकल्पिक चिकित्सा को अपनाते है, उनके परिमाण भी काफी सन्तोषजनक, स्थायी और अधिक प्रभावशाली होते हैं।

आज का चिन्तनशील मानव स्वास्थ्य के प्रति जितना चिन्तनशील होना चाहिए, प्रायः कम लगता है। उसको अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं। पूरी सोच भीड़, भ्रमित विज्ञापनों एवं मायावी आंकड़ों से प्रभावित होने के कारण वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति जितनी श्रद्धा, विश्वास, समर्पण होना चाहिए, नहीं होता।

वैकल्पिक चिकित्सा सस्ती होने के कारण अर्थ उपार्जन हेतु उपर्युक्त नहीं और न मंहगे विज्ञापनों द्वारा उसका प्रचार-प्रसार सम्भव होता है। आज विज्ञान के साथ-साथ विज्ञापन एवं शीघ्रता का भी युग है। विज्ञापन के माध्यम से किसी भी पदार्थ की उपयोगिता जन-जन तक पहुँचायी जा सकती है, परन्तु दुर्भाग्यवश मिथ्या विज्ञापन पर कानूनी प्रतिबन्ध न होने से अधिकांश नियमित प्रसारित होने वाले विज्ञापनों में छल, कपट, माया, मिथ्या प्रचार ज्यादा होता है। ज्यादा लाभ कमाने की प्रवृत्ति ही उसका एक मात्र उद्धेश्य होता है। अधिक विज्ञापन उन्हीं को प्रभावित करते हैं, जहाँ चिन्तन एवं स्वविवेक का अभाव होता है। जो स्वास्थ्य विज्ञान के मूल सिद्धान्तों की जानकारी के अभाव में मात्र भीड़ का अनुसरण करते हैं। अपना भला-बुरा, हानि-लाभ के दीर्घकालीन प्रभावों का विचार नहीं करते। जिनमें स्वयं निर्णय लेने एवं तर्क करने की क्षमता नहीं होती। इसी कारण स्वास्थ्य के नाम पर प्रसारित होने वाले अधिकांश विज्ञापनों में प्रायः थोथे, मन-लुभावने एवं भ्रमित करने वाले नारे और भाषा का प्रयोग किया जाता है ताकि जनसाधारण उस पदार्थ की तरफ सहज आकर्षित हो सके। कहने का आशय यही है कि आधुनिक चिकित्सा का आधार विज्ञान से ज्यादा विज्ञापन है। कारण चाहे जो हो सत्य सनातन होता है। किसी गलत रुझान अथवा दुष्प्रचार अथवा भ्रामक विज्ञापनों पर आधारित मान्यताओं का निवारण तर्कसंगत व सही विकल्प समझा कर ही किया जा सकता है।

विज्ञापनों से प्रभावित उपचार-

आज चिकित्सा के बारे में असमंजस की स्थिति है। अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों से सम्बन्धित चिकित्सक प्रायः एकपक्षीय चिन्तन के पूर्वाग्रहों से ग्रसित होते है। उनके चिन्तन में समग्रता एवं व्यापक दृष्टिकोण एवं समन्वय का अभाव होता है। जनसाधारण से ऐसी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वे शरीर, स्वास्थ्य और चिकित्सा पद्धतियों के बारे में विस्तृत जानकारी रखें। अधिकांश रोगियों को न तो रोग के बारे में सही जानकारी होती है और न वे अप्रत्यक्ष रोगों को रोग ही मानते हैं। जब तक रोग के स्पष्ट लक्षण प्रकट न हो जाएँ, रोग सहनशक्ति के बाहर नहीं आ जाता, तब तक शरीर में उपस्थित विकारों, असन्तुलनों विजातीय तत्त्वों, जो रोग के जनक होते हैं, ध्यान ही नहीं जाता। रोग के लक्षण प्रकट होने के बाद भी रोगी का एक मात्र उद्धेश्य येन-केन-प्रकारेण उत्पन्न लक्षणों को हटा

अथवा दबाकर तुरन्त राहत पाने का होता है। जैसे ही उसे आराम मिलता है, रोगी अपने आपको रोगमुक्त समझने लगता है।

रोगी रोग का कारण स्वयं को नहीं मानता और न अधिकांश चिकित्सक उपचार में रोगी की सजगता एवं मानसिक भागीदारी को आवश्यक समझते हैं। प्रायः डाक्टरों के पास उमड़ने वाली भीड़ और विज्ञापन ही उसको उपचार की विधि चुनने हेतु प्रेरित करते हैं। रोगी का डाक्टर एवं दवा के प्रति आवश्यकता से अधिक विश्वास होने तथा स्वयं के अज्ञान, अविवेक, असजगता के कारण तथा तर्क पूर्ण सम्यक् चिन्तन के अभाव में वह निदान की सत्यता और किए जा रहे उपचार की उपयोगिता एवं प्रभाव की यथार्थता का चिकित्सक से स्पष्टीकरण माँगना आवश्यक नहीं समझता और चिकित्सक भी कभी-कभी रोगी के प्रश्नों की उपेक्षा कर देते हैं। दुष्प्रभावों की उपेक्षावृत्ति के कारण कभी-कभी रोगी डॉक्टरों की प्रयोगशाला बन जाए तो भी आश्चर्य नहीं। ऐसे असजग रोगी विभिन्न प्रचलित परावलम्बी दवाओं पर आधारित चिकित्सा पद्धतियों में उपचार से अपेक्षित परिणाम न मिलने के कारण हतोत्साहित हो, जब प्रभावशाली स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा के अनुभवी चिकित्सकों के पास पहुँचते हैं, तब उनका मनोबल प्रायः टूट चुका होता हैं वे रोग से निराश और परेशान होते हैं, तब ही उनका विज्ञापनों पर आधारित चिकित्सा पद्धतियों के प्रति भ्रम दूर होता है। अपने आपको और अधिक डॉक्टरों की प्रयोगशाला न बना सकें, इस हेतु वे अधिक सजग पाए जाते हैं। उपचार से पूर्व वे निम्न स्पष्टीकरण अवश्य पूछते हैं।

1. क्या उनके रोग का उपचार सम्भव है?
2. आपने ऐसे कितने रोगियों का सफल उपचार किया?
3. मैं कब तक रोगमुक्त हो जाऊँगा?
4. उपचार का कोई दुष्प्रभाव तो नहीं पड़ेगा?

यदि उपर्युक्त स्पष्टीकरण रोग का प्रारम्भिक उपचार करते समय ही चिकित्सक से पूछ ले और निदान व उपचार के तौर-तरीके पर चिन्तन-मनन करने के पश्चात ही चिकित्सा प्रारम्भ कराएं, तो चाहे जिस चिकित्सा से उपचार कराए, निश्चित रूप से रोगी को लाभ पहुँचेगा और रोगी डॉक्टरों की प्रयोगशाला बनने से अपने आपको बचा लेगा।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति कितनी वैज्ञानिक?

क्या आधुनिक चिकित्सा पद्धति ही सिर्फ पूर्णतया वैज्ञानिक है, अन्य चिकित्सा पद्धतियाँ नहीं?

उपचार करते समय शरीर के साथ-साथ मन, भाव और आत्मा का उपचार ही सच्चा स्वास्थ्य विज्ञान है, परन्तु विज्ञापन के इस युग में स्वविवेक के अभाव के कारण तथा व्यक्ति में दुःख, पीड़ा, वेदना सहन करने की शक्ति घटने के कारण, भले-बुरे का चिन्तन किए बिना अधिकांश व्यक्ति और सरकार ऐलोपैथिक चिकित्सा को ही वैज्ञानिक मान रही है। उसके क्या दुष्परिणाम हो रहे हैं, चिन्तन का विषय है। आत्मा, कर्म, मन आदि की चर्चा करने से पूर्व वर्तमान चिकित्सा पद्धति कितनी वैज्ञानिक है, उस पर चिन्तन कर जनसाधारण में प्रचारित धारणाओं का निराकरण आवश्यक है। उसके अभाव में वैकल्पिक चिकित्सओं का महत्त्व जनसाधारण को समझाना अति कठिन होगा। साथ ही आधुनिक चिकित्सा पद्धति को पूर्णतया वैज्ञानिक, प्रभावशाली, विकसित, मानने वालों को जन साधारण में व्याप्त विभिन्न शंकाओं का सम्यक् समाधान कर स्पष्टीकरण देना चाहिए?

आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों की विसंगतियाँ-

आधुनिक चिकित्सा में आत्मा, मन एवं भावों की उपेक्षा होने से निदान एवं उपचार आंशिक और अधूरा होता है। प्रायः प्रत्येक अंग, उपांग, अवयव एवं इन्द्रियों आदि के अलग-अलग विशेषज्ञ होते हैं। परिणामस्वरूप उपचार शरीर को एक इकाई मानकर नहीं किया जाता, जबकि शरीर के सभी तंत्रों में पूर्ण रूप से आपसी सहयोग होता है। प्रत्येक रोग का थोड़ा, ज्यादा, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष प्रभाव पूरे शरीर पर भी पड़ता है। टुकड़ों-टुकड़ों में शरीर का उपचार करने से उसका प्रभाव शारीरिक स्तर पर भी पूर्ण रूप से नहीं होता।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ जो अधिकांश रोगों का मूल कारण है, उनका उपचार भी एलोपैथी में सरल नहीं। आधुनिक उपचार एवं निदान यंत्रों एवं रासायनिक परीक्षणों पर आधारित होने से बहुत महंगा होता है। चिकित्सकों का मार्गदर्शन तथा परामर्श आवश्यक होने से चिकित्सा परावलम्बी होती है। दवाइयों के बनाने और परीक्षण हेतु जीव-जन्तुओं की हिंसा, क्रूरता, निर्दयता होने से रोगी हिंसा के दोषों से नहीं बच सकता, जिससे आत्मा विकारी बन जाती है। जिसका परिणाम भविष्य में ज्यादा दुःखदायी, हानिकारक तथा कष्टप्रद हो सकता है। रोग के मूल कारणों की उपेक्षा होने से उपचार का लक्ष्य रोगी को राहत दिलाने तक ही सीमित होता है। दवाइयों का दुष्प्रभाव भी पड़ता है। रोग के कारण बने रहते हैं। साथ ही चिकित्सा पद्धति का प्रायः जीवन पद्धति से समन्वय नहीं होता। आधुनिक चिकित्सक प्रायः रोग की चिकित्सा करते हैं। रोग न होने की नहीं। उस तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता। जब तक रोग का कारण मौजूद होता है उपचार स्थायी और प्रभावशाली नहीं हो सकता और तब तक नए-नए अस्पताल खोलने से रोगों पर नियंत्रण सम्भव नहीं हो सकता।

चिकित्सा में अहिंसा की उपेक्षा अनुचित-

उपचार में आत्मा और कर्म की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप और शरीर को पोषण करने के नाम पर आज अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ भक्ष्य-अभक्ष्य, करणीय-अकरणीय, पाशविक-मानवीय प्रवृत्तियों का विवेक नहीं करती। जीवन विज्ञान की शिक्षा के नाम पर दवाओं के निर्माण और परीक्षण हेतु बेकसुर, बेजुबान, मूक पशुओं को भयंकर यातनाएँ और कष्ट देते हुए तनिक भी संकोच नहीं करते। पौष्टिकता के नाम पर अण्डों, मछलियों, माँसाहार जैसे तामसिक आहार की प्रेरणा दी जा रही है। दुःख देने से दुःख मिलता है, यह प्रकृति का सनातन सिद्धान्त है। रोग दुःख की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। अतः इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि अन्य प्राणियों के साथ क्रूरता और हिंसा में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से भागीदार बन हमें आत्म-शान्ति मिल सकती है? बिना आत्म-समाधि शरीर में रोगों से क्षणिक राहत तो भले ही मिल जाए, परन्तु स्थायी स्वस्थता प्राप्त नहीं हो सकती।

क्या दो रोगी एक जैसे हो सकते हैं?

दुनिया में कभी भी दो व्यक्ति पूर्ण रूप से एक जैसे न तो कभी हुए हैं और न कभी भविष्य में एक जैसे हो सकते हैं। उनकी शारीरिक संरचना, स्वभाव, आसपास के वातावरण की प्रतिक्रिया कायिक स्थिति कभी भी समान नहीं हो सकती है। कभी-कभी उनकी संरचना में एकरूपता और समानता दिखने के बावजूद शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अवस्था में कुछ न कुछ तो अन्तर होता ही है। जब दो व्यक्ति एक जैसे नहीं हो सकते हैं तो दो रोगी एक जैसे कैसे हो सकते हैं? प्रमुख रोग के लक्षण समान होने के बावजूद सहयोगी रोगों की स्थिति एक जैसे नहीं हो सकती? अर्थात् प्रत्येक रोगी में रोग का परिवार अलग-अलग होता है। जब दो रोगी एक जैसे नहीं हो सकते तो उनका उपचार एक जैसा कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष में समान लक्षण दिखने वाले अथवा रासायनिक प्रयोगशालाओं में रक्त,

मल, मूत्र के परीक्षण में समानता के लक्षण बतलाने वाले दो रोगी भी शत-प्रतिशत एक जैसे कैसे हो सकते है? अत:उनका उपचार भी पूर्णतया एक जैसा कैसे हो सकता है? क्या बाजार में उपलब्ध दवाइयों अथवा इंजेक्शन रोगी विशेष के अनुरूप बनाए जाते है? दवा कैसे बनती है? कौन-कौनसे आवश्यक और कम उपयोगी अथवा अनावश्यक तत्त्व कितनी-कितनी मात्रा में होते है? इस बात का ज्ञान अथवा जानकारी उपचार करने वाले चिकित्सक को प्राय: नहीं होती है। क्या डॉक्टर दवा से पड़ने वाले दुष्प्रभावों का सही आकलन कर सकते हैं? क्या दवा में आवश्यकता से विपरीत कम या अधिक तत्त्वों की मात्रा शरीर में असन्तुलन तो पैदा नहीं करेगी? क्या दवाइयों का परीक्षण एक जैसे रोगियों, वातावरण और परिस्थितियों में किया जाता है? गणित का सिद्धान्त है कि कोई भी समीकरण कुछ निश्चित स्थायी मापदण्ड होने पर ही सही समाधान कर सकता है, परन्तु दवाओं के परीक्षण में ऐसा असम्भव ही होता है। ऐसे परिणाम कभी भी दवाओं के परीक्षण में ऐसा असम्भव ही होता है। ऐसे परिणाम कभी भी एक जैसे नहीं हो सकते। जब तक दवा का निर्माण रोगी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं होगा तो उपचार कैसे पूर्ण, प्रभावशाली, स्थायी हो सकता है? मात्र प्रमुख लक्षणों को दबा कर रोग में राहत पाना ही उपचार का ध्येय नहीं होता। अत: ऐसी उपचार प्रणाली वैज्ञानिक होने का दावा कर भला कैसे सकती है?

क्या शरीर में अकेला रोग परेशान कर सकता है?

यदि हमारे शरीर के किसी भाग में कोई तीक्ष्ण वस्तु जैसे पिन, सूई, काँटा आदि चुभे तो सारे शरीर में छटपटाहट हो जाती है। आँखों में पानी आने लगता है, मुँह से चीख निकलने लगती है। शरीर की सारी इन्द्रियाँ और मन अपना कार्य रोककर क्षण भर के लिए उस स्थान पर केन्द्रित हो जाते है। उस समय न तो मधुर संगीत सुनना ही अच्छा लगता है और न मनभावन सुन्दर दृश्यों को देखना। न हँसी मजाक अच्छी लगती है और न अपने प्रियजन से बातचीत अथवा अच्छे से अच्छा खाना-पीना आदि। हमारा सारा प्रयास सबसे पहले उस चुभन को दूर करने में लग जाता है। जैसे ही चुभन दूर होती है, हम राहत अनुभव करते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि चाहे चुभन हो या आंखों में कोई बाह्य कचरा चला जाए अथवा भोजन करते समय गलती से भोजन का कोई अंश भोजन नली की बजाय श्वास नली में चला जाए तो शरीर तुरन्त प्रतिक्रिया कर उस समस्या का प्राथमिकता से निवारण करता है। जिस शरीर में इतना आपसी सहयोग, समन्वय, समर्पण, तालमेल एवं अनुशासन हो अर्थात् शरीर के किसी भाग में पीड़ा अथवा दु:ख से सारा शरीर दु:खी हो तो क्या ऐसे शरीर में छोटे-मोटे रोग पनप सकते हैं? वास्तव में अप्राकृतिक जीवन जीने के कारण शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमता क्षीण होने लगती है। परिणामस्वरूप शरीर में सैकड़ों अप्रत्यक्ष रोग अन्दर ही अन्दर पनपने लगते हैं, जिनकी तरफ हमारा ध्यान प्राय: नहीं जाता है और हम उन रोगों के कारणों की पूर्ण उपेक्षा करते है। चिकित्सकों द्वारा जिन लक्षणों के आधार पर रोगों का निदान और नामकरण किया जाता है, वे अकेले रोग नहीं होते, अपितु रोगों के परिवार के नेता होते हैं। जिन्हें सैकड़ों अप्रत्यक्ष सहायक रोगों का समर्थन प्राप्त होता है। परन्तु आज के चिकित्सकों का प्राय: अप्रत्यक्ष रोगों की तरफ ध्यान ही नहीं जाता और न वे सहायक रोगों को रोग मानते है उपचार करते और करवाते समय हमारा सारा प्रयास बाह्य लक्षणों को दूर कर नामधारी रोगों से राहत पाने का ही होता है।

आज स्वास्थ्य विज्ञान में लक्षणों के अनुसार रोगों के अलग-अलग नाम देकर उनकी व्याख्याएँ की जा रही हैं। शरीर को टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित कर उपचार और निदान किया जा रहा है। पूर्ण शरीर पर पड़ने वाले रोग के प्रभावों की उपेक्षा के कारण निदान और उपचार आंशिक एवं अधूरा ही हो सकता है। रोग के मूल कारणों को गौण किया जा रहा है। मानो पेड़ को सुरक्षित रखने के लिए उसकी जड़ को सींचने की बजाय सूख फूल, पत्तों को पानी

दिया जा रहा है। जनतंत्र में नेता को हटाने का एक उपाय है। जिस सहयोग और समर्थन से उसका चयन होता है उसकी ठीक विपरीत प्रक्रिया (असहयोग एवं विरोध) द्वारा उसको हटाया जा सकता है। बिना समर्थकों को अलग किए, जैसे नेता को बदलना सरल नहीं, उसी प्रकार रोग में अप्रत्यक्ष सहयोगियों की उपेक्षा कर रो से पूर्ण रूप से मुक्त करने का दावा खोखला लगता है। ऐसा निदान और उपचार अधूरा ही होता है तथा ऐसी चिकित्सा को वैज्ञानिक मानने का दावा क्या न्यायोचित है?

क्या भोजन में भावना का महत्त्व है?

आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों के अनुसार स्वास्थ्य के लिए पौष्टिक भोजन की अत्यधिक आवश्यकता पर विशेष जोर दिया जाता है। आहार गोष्ठियों में भोजन के अवयवों (प्रोटीन, वसा, विटामिन आदि) पर विस्तृत चर्चा कर मार्गदर्शन दिया जाता है, परन्तु भोजन के लिए उससे भी आवश्यक बातों की तरफ ध्यान नहीं दिया जाए? भोजन कैसे खिलाया जाए? आदि। हमारा भोजन हमें ही खाना और पचाना पड़ता है। भोजन में आज पौष्टिकता पर तो बहुत जोर दिया जाता है, परन्तु बनाने और खिलाने वाले तथा खाने वाले के भावों की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता और न चिकित्सक भी आहार का परामर्श देते समय उनके महत्त्व से परिचित कराते हैं। घर में स्नेही स्वजन द्वारा बनाए गए भोजन में धन उपार्जन हेतु बिना प्रेम से बनाए गए होटलों में मिलने वाले भोजन की अपेक्षा ज्यादा ताकत होती है। इसी कारण घर में रूखी-सूखी बनाने वाला मजदूर, नौकरों द्वारा बनाए गए पौष्टिक तत्त्वों से युक्त आहार लेने वाले अमीरों से ज्यादा ताकतवर होता है। आज घर में खाना पसन्द नहीं अथवा बनाते हमें आलस्य आता है। फलतः बाहर खाने को सभ्यता का सूचक समझने की भूल हो रही है। बाहर बने भोजन में कितनी शुद्धता, पवित्रता और स्वच्छता का ख्याल रखा जाता है, उसको तो जहां भोजन/खाद्य पदार्थ बनता है, वहाँ जाकर देखने से सही अन्दाज लगाया जा सकता है। उस भोजन बनाने वाले के भाव कैसे होते हैं? हम नहीं जानते? इसी कारण आज होम (घर) से होटल और होटल से हॉस्पिटल का सीधा मार्ग बन गया है। यदि आपको कोई अपने घर बुलाए , अच्छे से अच्छा पौष्टिक पदार्थ से आपको भोजन कराने के पश्चात् आपसे कह-''आज तक आपको जिन्दगी में कभी किसी ने इतना अच्छा भोजन कराया''। आपके मन में क्या प्रतिक्रिया होगी? और कितनी ताकत देगा ऐसा भोजन? अतः भोजन में भावों की तरंगों का बहुत महत्त्व होता है, परन्तु शायद ही कोई चिकित्सक इन तथ्यों पर जोर देता है। स्पष्ट है कि भोजन में पदार्थो का महत्त्व है परन्तु उसकी उपेक्षा भावों का अधिक महत्त्व होता है। इसी प्रकार रात्रि भोजन और तामसिक भोजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है, परन्तु इन तथ्यों को और उनको प्राथमिकता न देने वाली चिकित्सा पद्धतियों को वैज्ञानिक समझना न्यायसंगत नहीं लगता।

क्या अच्छी प्रतिरोधक क्षमता वालों को वायरस रोगग्रस्त कर सकते हैं?

आधुनिक चिकित्सा पद्धति रोग का मुख्य कारण शरीर में वायरस अथवा रोग के कीटाणुओं को मानती है। यदि इस तथ्य को ही पूर्ण सत्य मान लिया जाए तो गन्दी बस्तियों में रहने वाले, गाँव और शहर में रोजाना गन्दगी की सफाई करने वाले कर्मचारी तथा अस्पतालों में रोगियों की सेवा करने वाले डॉक्टर, नर्सेज एवं परिजन सदैव रोगग्रस्त ही होने चाहिए। इसके विपरीत स्वच्छ वातावरण में रहने वाले कभी रोगग्रस्त नहीं होने चाहिए। मानव अनन्त शक्तिशाली प्राणी है। उसमें अनन्त क्षमता और ऊर्जा होती है। जिस प्रकार लाखों चूहे मिलकर किसी शेर को परेशान नहीं कर सकते, उसी प्रकार यदि शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता अच्छी हो तो वायरस और कीटाणु उसका क्या बिगाड़ सकते है? परन्तु जिस प्रकार यदि शेर को अपनी क्षमता पर विश्वास न हो, वह प्रमाद अथवा आलसी हो या गहरी निद्रा में असजगता से सोया हुआ हो तो निश्चित रूप से चूहे उसको परेशान कर सकते है। जाग्रत अवस्था में वे

उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। ठीक उसी प्रकार जिसकी रोग प्रतिकारात्मक क्षमता अच्छी हो, उन्हें परेशानी नहीं हो सकती, परन्तु यदि शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता अच्छी न हो तो वायरस और कीटाणु अवश्य परेशानी पैदा कर सकते हैं। शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति रोगों से हमारी रक्षा करती है। शक्ति क्यों क्षीण होती है ? उसको क्षीण करने में गर्भावस्था से ही ली जाने वाली आधुनिक दवाइयों, इंजेक्शनों और टीकांकरण से पड़ने वाले दुष्प्रभावों की अहं भूमिका होती है। स्वविवेक एवं चिन्तन, मन्द हो जाता है तथा मनोबल, धैर्य, सहनशीलता घटने लगती है। जिनकी प्रतिरोधक क्षमता अच्छी होती है, उसका वायरस और बैक्टीरिया क्या बिगाड सकते हैं ? अर्थात् वे उसे रोगी नहीं बना सकते।

क्या दर्दनाशक दवाइयों से स्थायी पीड़ा निवारण संभव है ?

आधुनिक चिकित्सा के नाम से दी जाने वाली अधिकांश दर्दनाशक दवाइयां हमारी संवेदनाओं को निष्क्रिय कर पीड़ा भुलाने का कार्य करती है। हम यह भूल जाते हैं कि जो दवा रोगी की संवेदना मिटाती है, वह हमारी कितनी ही सक्रिय कोशिकाओं को निष्क्रिय बना देती है। यह तो वैसा ही हुआ जैसे उपद्रवों को शान्त करने के लिए सरकार कर्फ्यू लगाती है तथा उस समय पुलिस भले-बुरे का ख्याल किए बिना स्वतंत्र विचरण नहीं करने देती और जो भी सामने आता है उसको पकड़ लेती है। सारी गतिविधियाँ एवं आवागमन पर रोक लगा देती है। फलतः शहर में शांति कायम हो जाती है। दर्दनाशक दवाइयां शरीर में ऐसी ही शान्ति तो पैदा नहीं करती ? उपद्रव का कारण न मिटाया जावे तो वह शान्ति कितने दिनों तक रहेगी ? थोड़े समय पश्चात् दूसरे रूप में उपद्रव भड़केंगे, अशांति होगी। कर्फ्यू रखकर सारी शासन व्यवस्था कब तक चलाई जा सकेगी ? ठीक उसी प्रकार हमेशा दवाइयां खाकर अपने आपको स्वस्थ मानना बुद्धिमत्ता कैसे हो सकती है ? बहुत सी दवाइयां जो भूतकाल में अति प्रभावशाली समझी जा रही थीं, आज हानिकारक सिद्ध हो चुकी है, उनका निषेध हो रहा है। यही स्थिति भविष्य में उन दवाओं को भी हो जावे, जो आज प्रभावशाली समझी जा रही है। जैसे-जैसे उनसे पड़ने वाली राहत के साथ-साथ उससे शरीर पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का भी यदि तुलनात्मक, तथ्यपरक सम्यक् चिन्तन और अध्ययन किया जाए तो उससे प्राप्त परिणाम हमें चौंकाने वाले होंगे। उपचार के नाम पर रोगी के साथ धोखे के सूचक होने से वैज्ञानिकता के नाम पर पूर्वग्रसित मानसिकताओं तथा तर्क पूर्ण मान्यताओं को झकझोर देंगे। तात्कालिक राहत पहुँचाने वाली चिकित्साओं को प्रभावशाली मानना एवं भविष्य में उससे पड़ने वाले दुष्प्रभावों की उपेक्षा से अपने आपको धोखे में रखने के अलावा कुछ नहीं हैं। रुई में लगी आग को कब तक दबाकर और छिपाकर रखा जा सकेगा। आज अधिकांश असाध्य एवं संक्रामक रोगों की उत्पत्ति में दवाओं के दुष्परिणाम भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसी चिकित्सा पद्धतियां कैसे वैज्ञानिक मानी जा सकती है ?

क्या शरीर में रासायनिक परीक्षणों पर आधारित निदान सदैव समान होते हैं ?

व्यक्ति की संवदेनाओं, आवेंगों, तनाव आदि से अन्तःस्रावी ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं, जिससे शरीर की सभी क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण शरीर का रासायनिक स्वरूप (पैथोलाजी) कभी स्थिर नहीं रहता। प्रतिक्षण बदलता रहता है। यही कारण है कि किसी भी व्यक्ति के अलग-अलग समय पर कराए गए मल, मूत्र, रक्त, ई.सी.जी. आदि में पैथोलाजिकल टेस्ट रिपोर्ट निरन्तर बदलती रहती है। अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति में निदान का यही मूलाधार है। जब आधार ही बदलता रहे तो उन पर आधारित उपचार कैसे सही, पूर्ण, स्थायी और प्रभावशाली एवं दुष्प्रभावों से रहित हो सकता है ? अपने आपको वैज्ञानिक मानने वाली आधुनिक चिकित्सा को स्पष्ट करना चाहिए ?

क्या शरीर में सहयोगी अंगों का सिद्धान्त घटित होता है ?

संसार में सारी गतिविधियां एक-दूसरे के सहयोग एवं नियन्त्रण से संचालित होती हैं। प्रायः प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाएं होती है। जैसे जन्म और मृत्यु के बीच जीवन। दोनों अन्तिम छोर एक-दूसरे के पूरक होते हैं। जैसे दिन-रात, अन्धेरा-प्रकाश, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, पति-पत्नी, ठण्डा-गरम, पोजेटिव-नेगिटिव, चुम्बक के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव। जिस प्रकार गाड़ी की गति ब्रेक द्वारा नियंत्रित होती है, उसके बिना वाहन का उपयोग नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार शरीर में किसी भी अंग की कार्यप्रणाली पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होती। प्रत्येक अंग का पूरक अथवा सहयोगी अंग अवश्य होता है और जब उन सहयोगी अंगों में असन्तुलन हो जाता है तो रोग की स्थिति बन जाती है। लोम-विलोम अथवा यिन-यांग का सिद्धान्त प्रकृति के सनातन नियमों पर आधारित है, परन्तु आधुनिक अंग्रेजी चिकित्सा एवं विभिन्न अन्य चिकित्सा पद्धतियों में यह सिद्धान्त गौण है। फलतः जो अंग रोगग्रस्त होता है उसी में उसका कारण ढूँढा जाता है तथा उसी अंग के उपचार को प्राथमिकता दी जाती है। जैसे हृदय से, डायबिटीज का उपचार पेन्क्रियाज और दमे का उपचार फेफड़े के माध्यम से ही किया जाता है। आँख, नाक, कान, हृदय, गुर्दे आदि अंगों के विशेषज्ञ अलग-अलग होते हैं। अतः वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि कभी-कभी रोग का कारण उसका पूरक अंग (यिन-यांग) सिद्धान्त अनुसार हृदय का छोटी आंत, फेंफड़े का बड़ी आंत, तिल्ली/ पेन्क्रियाज का आमाशय, गुर्दे का मूत्राशय, लीवर का पित्ताशय और मस्तिष्क का नाड़ी संस्थान आदि भी हो सकता है। जैसे यदि किसी व्यक्ति की पत्नी बहुत ज्यादा बीमार हो और उसके कारण पति उदास, तनावग्रस्त अथवा दुःखी हो और यदि पति का तनाव मिटाना है तो पत्नी को रोगमुक्त करना होगा। पत्नी को रोग मुक्त किए बिना पति तनावमुक्त नहीं हो सकता अथवा उस बुढ़िया वाली कथा चरितार्थ हो जावेगी जिसकी सूई तो घर में गुम हो गई हैं, परन्तु घर में अंधेरा होने के कारण वह बाहर प्रकाश में ढूंढती है। उसी प्रकार कभी कभी रोग का कारण कुछ और निदान एवं उपचार कुछ और करने से समस्या का समाधान कैसे हो सकता है ? परिणामस्वरूप हृदय, डायबिटीज, अस्थमा जैसे अनेक रोगों को आधुनिक चिकित्सा पद्धति असाध्य मानती है। जीवन भर रोगी को दवा पर आश्रित होना पड़ता है। अन्य वैकल्पिक चिकित्साओं में उनका प्रभावशाली स्थायी उपचार सम्भव होता है तथा रोगी को दवा पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। ऐसे प्रकृति के मूल सनातन सिद्धान्तों की उपेक्षा करने वाली पद्धति को ही पूर्णतया वैज्ञानिक मानना कितना उचित है ?

क्या रोग और मौत का सीधा सम्बन्ध होता है ?

जो जन्म लेता है उसे एक दिन अवश्य मरना होता है परन्तु कौन, कब, कहाँ और कैसे मरेगा, आधुनिक विज्ञान के नियंत्रण से परे है। प्रायः हम देखते हैं कि बहुत से व्यक्ति बाह्य रूप से पूर्ण स्वस्थ दिखते हुए भी चलते-फिरते एकाएक इस संसार से विदा हो जाते हैं। इसके विपरीत बहुत से रोगी असाध्य एवं संक्रामक रोगों में तड़पने के बावजूद नहीं मरते। ऐसा क्यों ? कोई बाल्यकाल में ही मर जाता है, तो किसी का सौ वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी कुछ नहीं बिगड़ता, ऐसा क्यों ? क्या आज का विज्ञान और चिकित्सक किसी मृत व्यक्ति को थोड़े समय के लिए पुनः जीवित कर भी सकता है ?

अधिकांश व्यक्ति मृत्यु से पूर्व किसी न किसी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रोग से प्रायः पीड़ित होते हैं। अतः रोग होते ही जनसाधारण को मृत्यु का भय सताने लग जाता है। कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि समय पर डॉक्टर का उपचार मिल जाने से रोगी का जीवन बचाया जा सका, अन्यथा मृत्यु हो जाती। तो क्या अस्पतालों में डॉक्टरों की उपस्थिति में तो कोई नहीं मरता ? ऐसी सोच आंशिक सत्य पर आधारित भले ही हो किन्तु पूर्ण सत्य से परे होता है। प्रत्येक व्यक्ति

की मृत्यु अलग-अलग ढंग से क्यों होती हैं? सभी एक-सी आयु, एक जैसे रोग, एक जैसे वातावरण और परिस्थितियों एवं प्रक्रिया से क्यों नहीं मरते?

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान का दावा है कि विज्ञान ने मनुष्य की मृत्यु-दर पर नियंत्रण कर लिया है। पहले व्यक्ति की औसत आयु कम थी, परन्तु आज उसमें काफी वृद्धि हुई है। असाध्य रोगों के कारण कई व्यक्ति मर जाते थे, परन्तु आज ऐसा नहीं है परन्तु आयुष्य का नियंत्रण तो नियति या कर्म के हाथ में होता है, अन्यथा धनी व्यक्ति नेता और डॉक्टर कभी बीमार नहीं होते और न कभी मरते? दुर्घटनाओं, आत्म हत्याओं आदि से होने वाली अकाल मृत्यु ने आयुष्य के सम्बन्ध में नए-नए प्रश्नचिन्ह खड़े किए हैं, जिन पर हमारे अध्यात्म योगियों ने गहन चिन्तन कर तर्कपूर्ण सत्य पर आधारित आयुष्य कर्म का विस्तृत विवेचन किया है और सम्यक् समाधान किया है।

नियति और घटनाक्रम तो मृत्यु का बहाना मात्र है। अगर आयुष्य का नियंत्रण मानव के हाथ में होता तो सर्वशक्तिमान हमारे अवतार, तीर्थंकर अपनी आयुष्य को तो अवश्य बढ़ा सकते थे, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अतः ऐसी मान्यता यदि समय पर रोगी को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध हो जाती, तो उससे मौत से बचाया जा सकता था, मात्र व्यावहारिक है, किन्तु प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित नहीं। आयुष्य कर्म का बन्धन क्यों, कब, कैसे व कितना होता है? इसकी जानकारी रखने वालों के पास मौत के सम्बन्ध में हमारे मन में उठने वाले सभी प्रश्नों का तर्कसंगत सम्यक् समाधान उपलब्ध है। जिज्ञासुजन कर्म सिद्धान्तों का अवश्य अध्ययन करें, क्योंकि सारा चेतन विज्ञान उसके सिद्धान्तों द्वारा संचालित होता है।

क्या उपचार हेतु आत्मा के विकार बढ़ाना उचित है?

प्रायः वर्तमान में प्रचलित अधिकांश चिकित्सा पद्धतियां अपना उपचार शारीरिक रोगों तक ही सीमित रखती हैं। आत्मचेतना द्वारा संचालित सभी वृत्तियों की अभिव्यक्ति शरीर, मन और वाणी के द्वारा ही होती है। आत्मचेतना ही प्राण ऊर्जा का स्रोत होती है। कर्म व आत्म विकारों के अनुसार ही हमें चैतन्य ऊर्जा और प्राणों की प्राप्ति होती है। मन और वाणी मिलती है। मन से भूतकाल की स्मृतियां और भविष्य की कल्पनाएं होती है, वाणी के द्वारा ही भावों की अभिव्यक्ति होती है। आवेगों, संवेदनाओं का प्रकटीकरण सरलता से सम्भव होता है। मन की तन के सृजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रोग के अधिकांश कारणों का सम्बन्ध पूर्व उपार्जित असाता वेदनीय कर्मों के रूप में आत्मा के विकारों से होता है।

अतः जो चिकित्साएं निदान एवं उपचार करते समय मन, भाव, आत्मा आदि की उपेक्षाएँ करती हैं अर्थात् शरीर, मन और आत्मा में तालमेल, सन्तुलन, विकारों से मुक्ति नहीं दिलाती, ऐसी चिकित्सा पद्धतियों को वैज्ञानिक मानना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता।

क्या अंग्रेजी चिकित्सा ही प्रभावशाली है, अन्य चिकित्साएं नहीं?

प्रायः ऐसा प्रचारित किया जाता है कि आधुनिक समझी जाने वाली एलोपैथी चिकित्सा अत्यधिक प्रभावशाली है। क्या ऐसा कथन सत्य पर आधारित है? अगर यह चिकित्सा प्रभावशाली होती तो दवा लेते ही उपचार हो जाता। रोगियों को लम्बे समय तक अस्पतालों और डॉक्टरों के चक्कर नहीं काटने पड़ते? बहुत से रोगों में तो जिन्दगी भर दवाएं खाने की आवश्यकता नहीं होती? अंग्रेजी चिकित्सा तो रोगों में राहत पहुँचाती है, उपचार अधिक होते हैं। दुष्प्रभाव गौण होते हैं। यह चिकित्सा पद्धति अहिंसा की उपेक्षा करती है। शरीर की प्रतितकारात्मक क्षमताएँ घटाती है। इसी कारण डॉक्टरों और अस्पतालों की संख्या बढ़ने के बावजूद रोगियों की संख्या बहुत ज्यादा वृद्धि हो

रही है। नित नए रोग उत्पन्न हो रहे हैं। राहत उपचार का महत्त्वपूर्ण भाग हो सकता है, परन्तु राहत को ही उपचार मानने से उपचार कैसे प्रभावशाली समझा जा सकता है?

क्या स्वभाव स्वास्थ्य को प्रभावित करता है?

आज का स्वास्थ्य विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की हमारे स्वभाव, चिन्तन, मनन तथा विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारा मन, विचार और भाव उनसे प्रभावित होते हैं। अधिकांश रोगों का प्रारम्भ उन्हीं कारणों से होता है। तनाव, क्रोध, चिन्ता, भय आदि मानसिक रोग का कारण होते हैं तो उनके उपचार हेतु दवा का प्रावधान होना चाहिए। जिस पद्धति में रोग के ऐसे मूलभूत कारणों को दूर करने का प्रभावशाली उपाय न हों, ऐसी चिकित्सा पद्धति को वैज्ञानिक मानना और प्रचारित करना बुद्धिमत्तापूर्ण कैसे हो सकता है?

क्या ऐलोपैथिक निदान ही सही होता है अन्य नहीं?

यदि किसी व्यक्ति का परिचय पूछा जाए तो समाज में पिता के नाम से, ससुराल में पत्नी के रिश्ते से, बाजार में धन्धे से, अन्य गांव में वहां रहने वाले अपने परिजन से व्यक्ति पहचाना जाता है। एक ही व्यक्ति के अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग परिचय हो सकते हैं। यदि किसी व्यक्ति के अलग-अलग दिशाओं से फोटो लिए जाएँ तो एक ही व्यक्ति के फोटो होते हुए भी सभी फोटो एक जैसे नहीं हो सकते।

व्यक्ति का तनाव प्रायः पद, परिवार, पैसे, स्वास्थ्य आदि के कारण होता है, परन्तु कभी-कभी असंख्य ऐसे कारण होते हैं जो गिनाए नहीं जा सकते, परन्तु तनाव उत्पन्न कर धीरे-धीरे रोग का कारण बनते हैं। जब रोग का कारण रोगी का चिन्तन, मनन,सोच, स्वभाव, तनाव, खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, जीवनशैली आदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होती है, तो लक्षणों के आधार पर किया गया निदान, परीक्षण और उपचार कैसे सटीक और वैज्ञानिक हो सकता है? प्रत्येक रोगी के लिए दवा का निर्माण उसके स्वयं की आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। बाजार से उपलब्ध दवा शत-प्रतिशत कैसे हो सकती है? शादी के प्रसंगों पर बहुत से रीति-रिवाजों में भले ही एकरूपता हो, परन्तु उन उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति समान नहीं होते। शादी किसी के परिवार में हो और निमंत्रण अन्य परिवारों के परिचय के आधार पर जैसे नहीं दिया जा सकता, ठीक उसी प्रकार एक से लक्षण वाले रोगों में बाजारों में उपलब्ध दवा कैसे एक-सा प्रभाव डालेगी? प्रत्येक रोगी में रोग का परिवार अलग-अलग होता है, अतः उपचार भी अलग-अलग होना चाहिए?

चिकित्सा हेतु व्यापक दृष्टिकोण आवश्यक-

आज जो निदान के भौतिक साधन उपलब्ध हैं, वे व्यक्ति की मानसिकताओं, भावनाओं, कल्पनाओं, संवेदनाओं, आवेगों का विश्लेषण नहीं कर सकते। भय, दुःख, चिन्ता, तनाव, निराशा, अधीरता, पाशविक वृत्तियाँ, गलत सोच, क्रोध, छल, कपट, तृष्णा, अहं, असन्तोष से होने वाले रासायनिक परिवर्तनों को नहीं बतला सकते। भौतिक उपकरण और परीक्षण के तौर-तरीकों से रोगों से पड़ने वाले भौतिक परिवर्तनों का ही पता लगाया जा सकता है, उनके मूल कारणों तक नहीं पहुँचा जा सकता। अतः ऐसा निदान अपूर्ण होता है और उसके आधार पर की गई चिकित्सा कैसे पूर्ण अथवा वैज्ञानिक होने का दावा कर सकती है? उनका उपचार तो मात्र शरीर में होने वाले भौतिक परिवर्तनों तक ही सीमित होता है। शरीर की पीड़ाओं अथवा निष्क्रियताओं से हम घबरा जाते हैं, उन्हीं को रोग मानते हैं। चेतना का अस्तित्व एवं विकास उनके कार्यक्षेत्र में नहीं है। आधुनिक चिकित्सा में उपचार भौतिक शरीर तक ही

सीमित रहता है। सम्पूर्ण एवं स्थायी स्वास्थ्य सुरक्षा के लिए भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी आवश्यक होता है।

आज लोगों की ऐसी प्रवृत्ति बन गई है कि वे वैज्ञानिक तथ्यों को ही सुनना, समझना और ग्रहण करना पसन्द करते हैं। भले ही वे वैज्ञानिक मौलिक मापदण्डों से अपरिचित क्यों न हो? वास्तव में आज स्वास्थ्य विज्ञान विज्ञापन से ज्यादा प्रभावित हो रहा है, इसी कारण सनानत सिद्धान्तों की अपेक्षा विज्ञान की आड़ में हो रही है। इसी कारण हमें उपर्युक्त स्पष्टीकरणों की तरफ जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करने हेतु भाव व्यक्त करने पड़े।

उपरोक्त चर्चा का आशय किसी भी चिकित्सा पद्धति पर आक्षेप लगाना नहीं है। परन्तु निष्पक्ष चिन्तन द्वारा प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों के प्रति असजग एवं विवेक शून्य जनसाधारण में विवेक जाग्रत करना मात्र है। जिस प्रकार बीज बोने से पूर्व खेत की सफाई, हल जोतना और खाद आदि डालकर भूमि को उपजाऊ बनाना आवश्यक होता है। गिलास में नया पेय भरने से पूर्व, पुराना द्रव खाली करना अनिवार्य है। किसी कपड़े को रंगने से पहले पुराना रंग ब्लीचिंग प्रक्रिया द्वारा साफ करना आवश्यक होता है, ठीक उसी प्रकार स्वास्थ्य को समझने के लिए हमारी पूर्वाग्रसित गलत धारणाओं का अनेकान्त दृष्टिकोण से चिन्तन कर निराकरण आवश्यक है। उसके बिना क्या हेय, क्या ज्ञेय और उपादेय का न तो ज्ञान ही हो सकता है और न हमारी सही प्राथमिकताओं का चयन एवं क्षमताओं का अधिकतम उपयोग।

चिकित्सा में स्वावलम्बन, अहिंसा, प्रभावशीलता और स्थायित्व का महत्त्व तब ही समझा जा सकता है। बुराई को गलत न मानने वाले बुराई को नहीं छोड़ सकते। ठीक उसी प्रकार आधुनिक चिकित्सा पद्धति के दुष्प्रभावों को समझे बिना न तो उसके प्रति हमारा मोह भंग होगा और न वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों को जानने, समझने और अपनाने के प्रति जनसाधारण आकर्षित ही होगा। प्रत्येक चमकती वस्तु सोना नहीं होती।

ठीक उसी प्रकार आधुनिक चिकित्सा का निदान सदैव सही हो और उपचार भी सभी रोगों में लाभकारी और प्रभावशाली ही हो यह आवश्यक नहीं। आज रोग के लिए डॉक्टर न होकर डॉक्टर के लिए रोग है, समझा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं। जितने व्यक्ति दवाओं के दुष्प्रभाव और गलत निदान द्वारा होने वाले उपचार से पीड़ित हैं अथवा मृत्यु को प्राप्त करते हैं, उतने व्यक्ति अकाल, तूफान, युद्ध, महामारी आदि प्रकृति के अन्य प्रलयों में मिलकर भी नहीं मरते? यह कटुसत्य है तथा चिन्तन और चिन्ता का विषय है।

विज्ञापन और शीघ्रता के इस युग में जिस मानसिकता में हम जी रहे हैं, जो चिकित्सा न सहज है, न सरल है, न सस्ती है, न स्वावलम्बी है, न अहिंसक है, न पूर्ण है, न दुष्प्रभावों से रहित है, न स्थायी है, फिर भी आधुनिक चिकित्सा को विकसित, वैज्ञानिक, प्रभावशाली मानना कितनी बुद्धिमत्ता है? स्वास्थ्य प्रेमियों के लिए चिन्तन का प्रश्न है? जहाँ आधुनिक चिकित्सा का कोई विकल्प न हो अथवा जहाँ तत्कालिक राहत आवश्यक हो, वहीं आधुनिक चिकित्सा से उपचार करना चाहिए। प्रत्येक चिकित्सा पद्धति के अपने-अपने नियम और सिद्धान्त होते हैं। प्रत्येक की अपनी-अपनी सीमाएं होती है। कोई भी चिकित्सा अपने आपको पूर्ण मानने का दावा नहीं कर सकती है। रोग जितना-जितना उनकी सीमाओं में होगा, उतना-उतना उपचार उस चिकित्सा पद्धति से प्रभावशाली होगा। बिना सोचे-समझे, अज्ञानवश किसी भी चिकित्सा को अवैज्ञानिक, अनुपयोगी, अप्रभावशाली, अव्यावहारिक बतलाना क्या अबुद्धिमत्ता पूर्ण होगा?